प्रकाशक
नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स
बनारस

मुद्रक
मेवालाल गुप्त
बम्बई प्रिंटिंग काटेज, बाँस-फाटक
बनारस

दो शब्द

यों तो वणिक-उत्साह से उद्भूत अनेक संग्रह और रीडरें मार्केट में मारी-मारी फिरती हैं परन्तु उनमें एक भी ऐसी न निकलेगी जो बी० ए० ऐसी उच्च कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाने लायक ठहरे। नाना प्रकार के विषयों की रचनाएँ पढ़ते-पढ़ते इन विद्यार्थियों का बुद्धिपक्ष तो बलिष्ठ होने लगता है परन्तु हृदयपक्ष, भावपक्ष, काव्यानुभूति तथा कल्पनाक्षेत्र—सभी असंस्कृत और अस्फुट ही रह जाते हैं। उपन्यास, कहानी एवं अन्य विभिन्न विषयों में व्यवहृत व्यावहारिक भाषा और अभिव्यंजना से तो उनकी दोस्ती हो जाती है, परन्तु अलंकार-प्रधान भाषा-शैली और काव्यात्मक

तथा सांकेतिक कथन-प्रणाली की ओर से वे हृदयहीन ही बने रहते हैं। ये विद्यार्थी मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद', 'पन्त' प्रभृति की कविताएँ पढ़ते हैं और बुद्धिपक्ष से स्थूल अभिप्राय ग्रहण भी कर लेते हैं परन्तु उनके काव्यमय भाव-संवेदन की सरस मार्मिकता तक पहुँच नहीं पाते। इस दुर्बलता का प्रधान कारण यह है कि उनकी कविताओं में प्रयुक्त, संस्कृत तत्समता से आपूर्ण विशिष्ट पद-रचना तथा लाक्षणिक और भावमयी अभिव्यञ्जना का परिचय उनको गद्य के विस्तृत क्षेत्र में नहीं मिलता। अतएव गद्य के ऐसे प्रबन्धों के संग्रह की आवश्यकता दिखाई पड़ी जिसमें भाव और विचार-प्रधान रचनाएँ खुलकर आलङ्कारिक भाषा में की गई हों।

प्रस्तुत संग्रह की स्तुति करनी थी—विस्तार-पूर्वक, साथ ही वर्तमान सम्पादकों और संग्रहकर्ताओं को कोसना था जी भरकर—उनकी अयोग्यता तथा अनुभव की कमी के लिए। परन्तु समयाभाव के कारण हिम्मत नहीं पड़ रही है। मीन-मेष निकालनेवाले इस संस्करण में ऐसी ही त्रुटियाँ पा सकेंगे जो समयाभाव ही के कारण रह गई हैं।

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

द्वितीय संस्करण

पठन पाठन के अनुभव पर यह आवश्यक हो गया कि लेखों के संग्रह में कुछ परिवर्तन किया जाय। कोई लेख इसलिए हटाना पड़ा है क्योंकि वह उपयुक्त नहीं जान पड़ा और कोई विषय इस विचार से कम किया गया है कि अधिक प्रतिनिधि रचना का समावेश हो सके। इस रूप में विभिन्न शैलियों की रचनाएँ पूर्ण हो गईं और लेखों की संख्या भी कम हो गई है। अब पूरे एक वर्ष में यह पुस्तक पढ़ाई जा सकती है।

औरङ्गाबाद, काशी।
१०—७—४४

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

विषय-सूची

१.	लोभ और प्रीति	पं० रामचन्द्र शुक्ल
२.	साधना	श्री रायकृष्णदास
३.	(i) समुद्र-सन्तरण	श्री जयशंकर प्रसाद
	(ii) विसाती	,, ,,
४.	उपन्यास	श्री प्रेमचन्द
५.	अवशेष	डा० रघुबीर सिंह
६.	तुलसीदास की भावुकता	पं० रामचन्द्र शुक्ल
७.	अन्तर्नाद	श्री वियोगी हरि
८.	ज्योत्स्ना	पं० सुमित्रानन्दन पन्त
९.	सङ्कल्प	श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'
०.	काव्य में प्राकृतिक दृश्य	पं० रामचन्द्र शुक्ल

गद्य-काव्य-तरंगिणी

लोभ और प्रीति—

लेखक—पं० रामचंद्र शुक्ल

प्रस्तुत निबन्ध में विचारशील लेखक ने लोभ और प्रीति के स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। इन दोनों का तात्विक अन्तर समझाकर लेखक ने इनके उदय, वृद्धिक्रम और प्रभाव का मार्मिक विश्लेषण किया है; साथ ही यह भी समझाया है कि उनकी विभिन्न अन्तर्दशाएँ कैसा-कैसा रूप धारण कर मनुष्य के हृदय में किस प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

शुक्लजी अपने विचार-प्रधान एवं मनोवैज्ञानिक निबन्धों के लिए आदर्श हैं। भय, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि मनोविकारों की आपने तात्विक विवेचना की है। इस प्रकार के प्रायः सभी निबन्धों का संग्रह 'विचार-वीथी' में किया गया है। जैसी स्वच्छता आपकी विवेचना-पद्धति में दिखाई पड़ती है उसी प्रकार भाषा भी प्रौढ़, भाव-संवेदन में समर्थ, संस्कृत और धारावाहिक होती है।

पहली तरङ्ग—

किसी प्रकार का सुख या आनन्द देनेवाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं। दूसरे की वस्तु का लोभ करके लोग उसे लेना चाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करके लोग उसे देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या अभाव-कल्पना के बिना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इसके सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष हैं। जब लोभ अप्राप्त के लिये होता है तब तो दुःख स्पष्ट ही रहता है। प्राप्त के संबंध में दुःख का अंग निहित रहता है और अभाव के निश्चय या आशंका मात्र पर व्यक्त हो जाता है। कोई सुखद वस्तु पास में रहने पर भी मन में इच्छा का बीज रहता है कि उसका अभाव न हो। पर अभाव का जब तक ध्यान नहीं होता तब तक इस वासना का कहीं पता नहीं रहता। हम बैठे-बैठे किसी वस्तु का आनन्द ले रहे हैं और उस आनन्द के अभाव से जो दुःख होगा उसका कुछ भी ध्यान हमारे मन में नहीं है। इसी बीच में कोई आकर उस वस्तु को ले जाना चाहता है; तब हम उससे कुछ व्यग्र होकर कहते हैं 'अभी रहने दो।' इसके पहले कोरे आनन्द के अनुभव में इस इच्छा का कहीं पता न था कि वह वस्तु हटाई न जाय।

विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या जाति के प्रति होता है वहाँ वह लोभ ही रहता है; पर जहाँ किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहाँ वह 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेष वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितनी ही अच्छी-अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है। किसी स्त्री या पुरुष के रूप की प्रशंसा सुनते ही पहला भाव लोभ का होगा। किसी को हमने सुन्दर देखा और लुभा गए; उसके पीछे दूसरे को उससे भी सुन्दर देखा तो उस पर लुभा गए। जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा, तब तक हम रूपलोभी ही माने जायँगे। जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जायगा, हमारी वृत्ति एकनिष्ठ हो जायगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे पर साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।

लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनन्द का अनुभव होना। अतः वह आनन्द-स्वरूप है। इसी से किसी अच्छी वस्तु को देखकर लुभा जाना कहा जाता है! पर केवल इस अवस्था में लोभ की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनंद मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने

लोभ किया। जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की, दूर न करने की, नष्ट न होने देने की, इच्छा प्रगट होगी तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा। इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा या प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि 'वह उसे चाहता है।'

भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि चौबे जी को मिष्ठान्न से अधिक रुचि है। यह अभिरुचि भी लोभ की चेष्टाएँ उत्पन्न करती है। इंद्रियों के विषयभेद से अभिरुचि के विषय भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कमल का फूल और रमणी का सुन्दर मुख अच्छा लगता है, वीणा की तान और अपनी तारीफ अच्छी लगती है, जूही और केसर की गंध अच्छी लगती है, रबड़ी और मालपूआ अच्छा लगता है, मुलायम गद्दा अच्छा लगता है। ये सब वस्तुएँ तो आप आनन्द देती हैं इससे इनकी प्राप्ति की इच्छा तो बहुत सीधी-सादी और स्वाभाविक कही जा सकती है। पर जिससे इन सब वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ होती है उसमें चाहे आनन्द देनेवाली स्वतः कोई बात न हो, पर उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है, उसका लोभ होता है। (रुपए के रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे। यहाँ तक कि 'लोभी' शब्द से साधारणतः रुपये-पैसे का लोभी, धन का लोभी, समझा जाता है।) (एक धातुखंड के गर्भ में कितने प्रकार के सुख और आनन्द मनुष्य समझता है ! पर यह समझ इतनी पुरानी पड़ गई है कि इसकी

ओर हमारा ध्यान अब प्रायः नहीं रहता। धन-संचय करने में बहुतों का लक्ष्य धन ही रहता है, उससे प्राप्य सुख नहीं। वे बड़े-से-बड़े सुख के बदले में या कठिन से कठिन कष्ट के निवारण के लिये थोड़ा सा भी धन अलग करना नहीं चाहते। उनके लिये साधन ही साध्य हो जाता है।

स्थितिभेद से प्रिय या अच्छी लगनेवाली वस्तु के सम्बन्ध में इच्छा दो प्रकार की होती है—

१ प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा,

२ दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा।

प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है—

१ इतने संपर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो,

२ इतने संपर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों।

इनमें से प्रथम प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोध-ग्रस्त होती है इससे उस पर समाज का ध्यान अधिक रहता है। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगती है; लगा करे, दूसरों को इससे क्या? पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाएँगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जायगा जिनमें से कुछ हाथ थामनेवाले और मुँह लटकानेवाले भी निकल सकते हैं। हमारे लोभ की शिकायत ऐसे ही लोग अधिक करते पाए जायँगे। दूसरों के लोभ की निन्दा जैसी अच्छी लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं। माँगने पर न पानेवाले और न देनेवाले दोनों इसमें प्रवृत्त होते हैं। एक कहता है 'वह बड़ा लोभी है; देता नहीं' दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है;

बराबर माँगा करता है।' रहीम दोनों को लोभी, दोनों को बुरा कहते हैं—

रहिमन वे नर मरि चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत 'नाहिं'॥

ऐसा उस समय होता है जब एक ही वस्तु के संबंध में एक ओर तो प्राप्त करने और दूसरी ओर दूर न करने की इच्छा बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से दो व्यक्तियों में होती है। इसके अतिरिक्त एक ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा यदि संयोग से प्राणियों के चित्त में हुई तो भी विरोध का पूरा विधान होता है। सारांश यह कि दोनों अवस्थाओं में लोभ का लक्ष्य एक होने पर लोभी एक दूसरे को बहुत व्याकुल करते हैं।

प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा की सदोषता और निर्दोषता लोभ के विषय पर भी निर्भर रहती है। लोभ के विषय दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा घर तथा धन, जिससे ये सब वस्तुएँ सुलभ होती हैं; सबको भाता है, सब उसकी प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। ये लोभ के सामान्य विषय हुए, जिन पर प्रायः मनुष्य मात्र का लक्ष्य रहता है अतः इनके प्रति जो लोभ होता है उस पर बहुत लोगों का ध्यान जाता है। पर यदि किसी को गुलाब-जामुन या विशेष बूटी की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे, तो उसके इस लोभ पर बहुधा कम लोगों का ध्यान जायगा और जिनका ध्यान जायगा भी उन्हें वह खटकेगा नहीं। ऐसे लोभ को वे रुचि कहेंगे। सबको जिसकी हाय-हाय होती है, सब जिसको पाना या रखना चाहते हैं, वह बहुत से लोगों को एक मैदान में लाकर खड़ा किया करता है जहाँ एक दूसरे की

गति-विधि का निरीक्षण और अवरोध बड़ी नजर और पूरी मुस्तैदी से होता है।

यदि मनुष्य-समाज में सबके लोभ के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहनेवाले कहीं न मिलते। यदि एक साथ रहनेवाले दस आदमियों में से कोई गाय बहुत चाहता कोई घोड़ा, कोई कपड़ा, कोई ईंट, कोई पत्थर, कोई सोना कोई चाँदी, कोई ताँबा और इन वस्तुओं में से किसी को शेष सब वस्तुओं को प्राप्त कराने की कृत्रिम शक्ति न दी जाती, तो एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता और दूसरी बात यह होती कि लोभ का एक बुरा लक्षण जो असंतोष है, उसकी भी एक सीमा हो जाती—कोई कितनी गाएँ रखता, कितने घोड़े बाँधता, कहाँ तक सोना-चाँदी इकट्ठी करता। पर विनियम की कठिनता दूर करने के लिये मनुष्यों ने कुछ धातुओं में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिससे मनुष्य मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सबकी टकटकी टके की ओर लग गई।

लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक दूसरे की आँखों में खटकनेवाले लोभ की वृद्धि हुई। जब एक ही को चाहनेवाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसन्द करते? लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए। धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से, की जाती थीं वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं।

सामान्य-विषयगत प्रतिषेधात्मक लोभ में भी लोकदृष्टि जितनी ही संकुचित होती है, उसके भीतर जितनी ही कम वस्तुएँ आती हैं, उतना ही उसका दोष कम होता है। अच्छे भोजन

की सबको चाह होती है अतः उसे बहुत चाहनेवाला लोभी कहला सकता है। पर अच्छे भोजनों में से यदि किसी को मिठाई की चाह अधिक रहे, तो उसका दोष कम और मिठाइयों में से यदि केवल गुलाबजामुन की अधिक चाह रहे तो और भी कम क्या कुछ भी न समझा जायगा। इसी प्रकार जहाँ एक ही वस्तु बहुत प्रकार की रखी हुई है वहाँ यदि कोई एक किसी को बहुत पसन्द आ जाय और वह उसे लेना चाहे तो उसकी गिनती लोभियों में न होगी। विश्वामित्र को वसिष्ठ की गाय बहुत पसन्द आई और वे उसके बदले में बहुत सी गाएँ देने के लिए तैयार हो गए पर वसिष्ठ ने अपनी गाय नहीं दी। इसके लिये लड़-भिड़ कर भी न वसिष्ठ लोभी कहलाए, न विश्वामित्र। इसी प्रकार एक नवाब साहब को बाबू हरिश्चन्द्र का एक अलबम बहुत पसन्द आया था। ये लोभ के विशेष विषय के उदाहरण हैं। इनके प्रति जो लोभ होता है उसके अवसर इतने कम होते हैं कि उनके स्वभाव या अधिक अभ्यास का अनुमान नहीं किया जा सकता। पर किसी की अच्छी चीज देखते ही जिनके मुँह में पानी आ जाता है, वे बराबर खरी-खोटी सुना करते हैं। एक लोभ से दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आता है। विशेष-विषय-गत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे एक विशेष और निर्दिष्ट वस्तु से है अतः उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का त्याग वह उसके लिये कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिये अपना सारा राजपाट देने को तैयार हो गए थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

यहाँ तक तो प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छावाले लोभ की

बात हुई जिसका प्रायः विरोध होता है। अब प्राप्ति की उस इच्छा का विचार करता हूँ जिसे एक ही वस्तु के सम्बन्ध में बहुत से लोग बिना किसी विरोध के रख सकते हैं। जिस लोभ से दूसरे को कोई बाधा या कष्ट पहुँचता है उसी को पहले एक—प्रायः जिसे बाधा या कष्ट होता है—बुरा कहता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा; इसी प्रकार बहुत से बुरा कहनेवाले हो जाते हैं। सारांश यह कि जो लोभ दूसरे की सुख-शान्ति या स्वच्छन्दता का बाधक होता है, अधिकतर वही निन्द्य समझा जाता है। उपवन की शोभा सबको लुभाती है। यदि कोई नित्य किसी के बगीचे में जाकर टहला करे तो उसका क्या जाता है? यदि हम किसी वस्तु पर लुभाकर उससे उतना ही सम्पर्क रखना चाहते हैं जितना सब लोग एक साथ रख सकते हैं, तो हमारा लोभ किसी की आँखों में नहीं खटक सकता। बगीचे को आँख से एक साथ बहुत लोग देख सकते हैं, पर उसमें के फल नहीं खा सकते। जहाँ देखने का भी दाम लगता है या कुछ आदमियों का देखना बिना बन्द किये देखा नहीं जा सकता, वहाँ दृष्टि-सम्पर्क की इच्छा भी मुश्किल में डाल देती है। पर जहाँ एक की इच्छा दूसरे की इच्छा की बाधक न होकर साधक होती है वहाँ एक ही वस्तु का लोभ रखनेवाले बहुत से लोग बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं। लुटेरे या डाकू इसी प्रकार दलबद्ध होकर काम करते हैं।

किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठाकर भी वहाँ से नहीं जाना चाहता। हम कह सकते हैं कि उसे उस स्थान का पूरा लोभ है। जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेश-प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के

लक्षणों से शून्य देश-प्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा; सबको वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है। जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि, "भाइयों! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े, या खड़े-खड़े, तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो!" प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करनेवाले नहीं। हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है। हितचिंतन और हितसाधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है, वह मन के वेग पर निर्भर है; उसका संबंध लोभ या प्रेम से है जिसके बिना आवश्यक त्याग का उत्साह हो ही नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक ये कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

रसखान तो किसी की "लकुटी अरु कामरिया" पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश-प्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझ कर, या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियों! तुम जरा-सा दुबले हो जाते—अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।

अब पूछिए कि जिनमें यह देश-प्रेम नहीं है उनमें यह किसी प्रकार हो भी सकता है? हाँ, हो सकता है—परिचय से, सान्निध्य से। जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार सान्निध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें हम बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें हम बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है, सारांश यह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह आता है उसे छोड़ते हुए उसे दुःख होता है। पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय से निकला है। परिचय प्रेम का प्रवर्त्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिये हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँख खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक

रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो-दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी-आध-घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखों में समा जायगा, तुम उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अंतःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह तो वर्त्तमान प्रेमसूत्र हुआ। अतीत की ओर भी दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीष्म, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का स्मरण करो जिससे ये सब नाम तुम्हारे हो जायँ। इनके नाते यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हें प्रिय होंगे।)

आरंभ में ही कहा जा चुका है कि प्रवृत्ति-भेद से प्रिय वस्तु के संबंध में इच्छा दो प्रकार की होती है—प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा तथा दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा का विचार तो हो चुका। अब रक्षा की इच्छा का अन्वेषण करना है। रक्षा की इच्छा भी दो प्रकार की होती है—

१ स्वायत्त रक्षा की इच्छा अर्थात् अपने अधिकार में रखने की इच्छा।

२ स्व-निरपेक्ष रक्षा की इच्छा अर्थात् केवल बने रहने देने की इच्छा। स्वायत्त रखने की इच्छा प्रायः अनन्य उपयोग या उपभोग की वासना से संबद्ध रहती है इससे वह कभी कभी लोगों को खटकती है और लोग उसका विरोध करते हैं। कोई बहुत मीठे आम का पेड़ है जिसका फल सब लोग खाते हैं और जिसकी रखवाली सब लोग करते हैं। यदि उनमें से कोई

एक अकेले उसकी रखवाली करने चले और किसी को पास न आने दे तो सब लोग मिलकर विरोध करेंगे। पर कभी-कभी स्वायत्त रखने की इच्छा अन्य द्वारा यथेष्ट रक्षा के उस अविश्वास के कारण होती है जो लोभ या प्रीति की अधिकता से उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में यदि संरक्ष्य वस्तु के उपयोग या उपभोग आदि में औरों को कोई बाधा नहीं पहुँचती है तो किसी एक का उसे अपनी रक्षा में रखना दूसरे को बुरा नहीं लगता।

यदि लोभ की वस्तु ऐसी है जिससे सबको सुख और आनं है तो उस पर जितना ही अधिक ध्यान रहेगा, रक्षा के भा की एकता के कारण, परस्पर मेल की उतनी ही प्रवृत्ति होगी यदि दस आदमियों में से सबकी यही इच्छा है कि कोई मंदि बना रहे, गिरने-पड़ने न पाए अथवा और अधिक उन्नत औ सुसज्जित हो, तो यह सम्मिलित इच्छा ऐक्य-सूत्र होगी। मिल कर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होत है, यह बतलाना 'पर-उपदेश-कुशल' नीतिज्ञों का काम है, मेरे विचार का विषय नहीं। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छानबीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न है। (मुझे तो यह कहना है कि इन इन अवस्थाओं में मेल की प्रवृत्ति होती है। अब मेल से क्या-क्या लाभ होते हैं यह तो न जाने कितने झगड़ालू बताते हैं और न जाने कितने लोग सुनकर झगड़ा करते हैं।)

लोभ का सबसे प्रशस्त रूप वह है जो रक्षा मात्र की इच्छा का प्रवर्तक होता है, जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई वस्तु बनी रहे, चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए

या न आए। इस लोभ में दोष का लेश उसी अवस्था में आ सकता है जब कि वह वस्तु ऐसी हो जिससे किसी को कोई बाधा या हानि पहुँचती हो। कोई सुन्दर कृष्णसार मृग नित्य आकर खेती की हानि किया करता है। उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसकी रक्षा चाहनेवाला यदि बराबर उसकी रक्षा में प्रवृत्त रहेगा तो बहुतों से उसकी अनबन हो सकती है। वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक दूसरे का लोभी बनाए रहती है वह भी परम पूज्य है। घर का प्रेम, पुर या ग्राम का प्रेम, देश का प्रेम इसी पवित्र लोभ के क्रमशः विस्तृत रूप हैं। मनुष्य के प्रयत्नों की पहुँच बहुत परिमित होती है। अतः जो प्रेमक्षेत्र जितना ही निकटस्थ होगा उसमें उतने ही अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होगी और जो जितना ही दूर होगा, प्रयत्नों का उतना ही कम अंश उसके लिए आवश्यक होगा। सबसे अधिक घर की रक्षा का, फिर पुर या ग्राम की रक्षा का और फिर देश की रक्षा का ध्यान जनसाधारण के लिये स्वाभाविक है। पर जिनकी दृष्टि बहुत व्यापक होती है, जिनके अन्तःकरण में परार्थ को छोड़ स्वार्थ के लिये अलग जगह नहीं होती, वे इस क्रम का विपर्यय कर दिखाते हैं। वे देश की रक्षा के लिये अवसर पड़ने पर घर का लोभ क्या प्राण तक का लोभ छोड़ देते हैं। पर ऐसे लोग विरले होते हैं। सबसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

अब घर का प्रेम, पुर का प्रेम, देश का प्रेम कहाँ तक विरोध-शून्य होता है, यह भी देखिए। इनका अविरोध परिमित होता है—घर के भीतर, पुर या ग्राम के भीतर ही उसके होने का निश्चय रहता है। घर के बाहर, पुर या ग्राम के बाहर, देश के बाहर विरोध करनेवाले मिल सकते हैं। एक घर की रक्षा दूसरे

घरवालों से, एक पुर की रक्षा दूसरे पुरवालों से, और एक देश की रक्षा दूसरे देशवालों से करनी पड़ती है।

जिनकी आत्मा समस्त भेद-भाव भेदकर अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँची हुई होती है वे सारे संसार की रक्षा चाहते हैं—जिस स्थिति में भूमण्डल के समस्त प्राणी, कीट पतंग से लेकर मनुष्य तक, सुखपूर्वक रह सकते हैं; उसके अभिलाषी होते हैं। ऐसे लोग विरोध के परे हैं। उनसे जो विरोध रखें वे सारे संसार के विरोधी हैं; वे लोक के कंटक हैं।

कोई वस्तु हमें बराबर सुख या आनंद देती रहे और कोई वस्तु बनी रहे, इन्हीं दो भावों को लेकर स्वायत्त रक्षा की इच्छा और स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा ये दो विभाग पहले किए गए हैं। अतः पहली को यदि हम अपने सुख की रक्षा की इच्छा कहें तो बहुत अनुचित न होगा। वस्तु के दूसरे के पास जाने से या नष्ट हो जाने से हमें सुख या आनन्द न मिल सकेगा, इसी से हम उसकी रक्षा के लिये व्यग्र होते हैं। यदि ऐसी वस्तु को कोई उठाए लिए जाता हो और वह बीच में नष्ट हो जाय, तो हमें दुःख न होगा क्योंकि जब चीज हमारे हाथ से निकल गई, हमें वह सुख या आनन्द दे ही नहीं सकती, तब वह चाहे रहे, चाहे नष्ट हो। यहाँ तक कि यदि ले जानेवाले के प्रति हमें क्रोध होगा या ईर्ष्या होगी तो हम प्रसन्न होंगे। जहाँ वस्तु-रक्षा की इच्छा होगी वहाँ यह बात न होगी। हम किसी दशा में उस वस्तु का नाश न चाहेंगे। किसी पुराने काजी के पास दो स्त्रियाँ एक बच्चे को लेकर लड़ती हुई आईं। एक कहती थी बच्चा मेरा है; दूसरी कहती थी मेरा। काजी साहब ने परीक्षा के विचार से कहा—"अच्छा, तुम दोनों को बच्चा काटकर आधा-आधा बाँट दिया जायगा।" इतना सुनते ही दोनों में से

एक स्त्री घबराकर बोल उठी—'इसे दीजिए, दवा मुझे न चाहिए, इसी को दे दीजिए।" पीछे मालूम हुआ कि बच्चा इसी का है। वह उसी बच्चे की माँ थी, अतः उसे उसका सच्चा लोभ था।

अब तक लोभ के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया वह उसका व्यापक अर्थ लेकर। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, 'लोभ' शब्द कहने से आजकल प्रायः धन के लोभ की भावना होती है, प्राप्ति या रक्षा की उस इच्छा की ओर ध्यान जाता है जो जीवन-निर्वाह की सामग्रियों के प्रति होती है। धन से अनेक सुखों की प्राप्ति और अनेक कष्टों का निवारण होता है अथवा यों कहिए कि धन के बिना संसार में रहना संभव नहीं। संसार में जो इतने लोग धन इकट्ठा करते दिखाई देते हैं उनमें से कुछ तो घोर कष्ट के निवारण के लिये, कुछ अधिक सुख की प्राप्ति के लिये, कुछ भविष्य में सुख के अभाव या कष्ट की आशंका से और कुछ बिना किसी उद्देश्य-भावना के। इनमें से प्रथम श्रेणी के लोग तो धन की चाहे जितनी प्रबल इच्छा करें, उसके लिये चाहे जितने आतुर हों, लोभी नहीं कहला सकते। धन के बिना जिन्हें पेट भर अन्न नहीं मिलता, जो शीत और ताप से अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते, उन्हें जो लोभी कहे वे बड़े भारी लोभी और बड़े भारी क्रूर हैं। दूसरी श्रेणी के लोगों पर से लोभ के आरोप की सम्भावना क्रमशः बढ़ते चौथी श्रेणी के लोगों पर जाकर निश्चय-कोटि को पहुँच जाती है। कष्ट-निवारण की इच्छा, अधिक सुखप्राप्ति की इच्छा, सुखाभाव या कष्ट की आशंका—ये तीनों धन और उसकी प्रीति की इच्छा के बीच ओट या व्यवधान के रूप में रहती हैं। जहाँ इन तीनों में से कोई परदा नहीं रहता वहाँ शुद्ध धन-लोभी की जघन्य मूर्ति साक्षात् दिखाई पड़ती है।

धन की कितनी इच्छा लोभ के लक्षणों तक पहुँचती है, उसका निर्णय कठिन है। पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिये बहुत कम स्थान रह जाता है। और मनोवेगों के आधिक्य से लोभ के आधिक्य में विशेषता यह होती है कि लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता रहता है, जिससे असन्तोष की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ और वृत्तियों के लिये स्थायी अनवकाश हो जाता है। और मनोविकारों में यह बात नहीं होती। क्रोध को ही लीजिए। क्रोध कुछ बातों पर आता है पर उन बातों को ढूँढ़ने में प्रवृत्त नहीं होता। क्रोधी स्वभाव का मनुष्य ऐसी बातों पर भी चिढ़ जाता है जिससे और लोग नहीं चिढ़ते पर वह सदा इस फेर में नहीं घूमा करता कि कोई बात चिढ़ने को मिले। क्रोध से आग बबूला होनेवाले तुरन्त करुणा से आर्द्र और लज्जा से पानी-पानी होते हुए भी देखे जाते हैं। क्रोध आदि में अन्य वृत्तियों का जो बाध होता है वह प्रायः क्षणिक होता है, पर लोभ द्वारा स्थायी हो जाता है। बात यह है कि लोभ का प्रथम अवयव सुखात्मक होने के कारण लोभी को विषय की ओर बराबर प्रवृत्त रखता है। धन का लोभी धन पाकर लोभ से निवृत्त नहीं हो जाता; या तो भले-बुरे का सब विचार छोड़ रक्षा में तत्पर दिखाई देता है या और अधिक प्राप्ति में। इस प्रकार लोभ से अन्यमुख-वृत्तियों का जो स्तंभन होता है वह स्वभावांतर्गत हो जाता है। अस्तु, स्थूल रूप से उद्धृत लोभ के दो उग्र लक्षण कहे जा सकते हैं—

१ असंतोष।

२ अन्य वृत्तियों का दमन।

धन का जो लोभ मानसिक व्याधि या व्यसन के रूप में होता है उसका प्रभाव अंतःकरण की शेष वृत्तियों पर यह होता है कि वे अनभ्यास से कुंठित हो जाती हैं। (जो लोभ मान-अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्टनिवारण या सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा ? (जो अनाथ विधवा का सर्वस्व-हरण करने के लिये कुर्क अमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो अभिमानी धनिकों की दुत्कार सुनकर त्योरी पर बल नहीं आने देते, जो मिट्टी में रुपया गाड़कर न आप खाते हैं न दूसरे को खाने देते हैं, जो अपने परिजनों का कष्टक्रंदन सुनकर भी रुपए गिनने में लगे रहते हैं वे अधमरे होकर जीते हैं। उनका आधा अन्तःकरण मारा गया समझिए। जो किसी के लिये नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।)

(लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या ? (जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। सुन्दर से सुन्दर रूप देखकर वे अपनी एक कौड़ी भी नहीं भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नहीं छोड़ते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने में वे लज्जित नहीं होते।)क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से

क्या मिलता है कि वे करने जायँ ? जिस बात से उन्हें कुछ मिलता नहीं जब कि उसके लिये उनके मन के किसी कोने में जगह नहीं होती तब जिस बात से पास का कुछ जाता है, वह बात उन्हें कैसी लगती होगी, यह यों ही समझा जा सकता है। जिस बात में कुछ लगे वह उनके किसी काम की नहीं—चाहे वह कष्ट-निवारण हो या सुखप्राप्ति, धर्म हो या न्याय। वे शरीर सुखाते हैं; अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते; लोभ के अंकुश से अपनी संपूर्ण इंद्रियों को वश में रखते हैं। लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इंद्रियनिग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है !!

पक्के लोभी लक्ष्यभ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं। किसी वस्तु को लेने के लिये कई आदमी खींचतान कर रहे हैं। उनमें से एक क्रोध में आकर उस वस्तु को नष्ट कर देता है। उसे पक्का लोभी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध ने उसके लोभ को दबा दिया, वह लक्ष्यभ्रष्ट हो गया।

अब एक प्राणी के प्रति दूसरे प्राणी के लोभ का प्रसंग सामने आता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। यद्यपि किसी व्यक्ति की ओर प्रवृत्ति भी जब तक एकनिष्ठ न हो, लोभ ही कही जा सकती है; पर साधारण बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषय-भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में बहुत कुछ भेद

पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ का अलग नाम दिया गया है। पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं, इसका पता हमारी भाषा ही देती है। किसी रूपवान् या रूपवती को देख उस पर "लुभा जाना" बराबर कहा जाता है। अँगरेजी के प्रेम-वाचक शब्द 'लव' (Love), सैक्सन के 'लुफु' (Lufu) और लैटिन के 'लुबेट्' (Lubet) का सम्बन्ध संस्कृत के 'लोभ' शब्द या 'लुभ्' धातु से स्पष्ट लक्षित होता है।

किसी व्यक्ति का लोभ वस्तु के लोभ से कितना विलक्षण होता है, अब यह देखना चाहिए। विलक्षणता का सबसे बड़ा कारण है दोनों पक्षों में मनस्तत्त्व का विधान। जो लुब्ध होता है उसके भी हृदय होता है; जिस पर वह लुब्ध होता है उसके भी। अतः किसी व्यक्ति का लोभी उस व्यक्ति से केवल बाह्य संपर्क रखकर ही तुष्ट नहीं हो सकता, उसके हृदय का संपर्क भी चाहता है। अतः मनुष्य का मनुष्य के साथ जितना गूढ़, जटिल और व्यापक सम्बन्ध हो सकता है उतना वस्तु के साथ नहीं। वस्तु-लोभ के आश्रय और आलंबन, इन दो पक्षों में भिन्न-भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं। पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग है, इससे कहीं अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है।

वस्तु के भीतर लोभी चेतना का कोई विधान नहीं देखता जिस पर प्रभाव डालने का वह प्रयत्न करे। पर प्रेमी प्रिय की अंतर्वृत्ति पर प्रभाव डालने में तत्पर रहा करता है। प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न होने के साथ ही जगती है और बढ़ी चली जाती है। किसी वस्तु पर लुब्ध होकर कोई इस चिंता में नहीं पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाय कि वह उस पर लुब्ध है। पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस

बात के लिये आतुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाय।

इस प्रवृत्ति के मूल में कई बातें दिखाई पड़ती हैं। पहली बात तो तुष्टि का विधान है। लोभी या प्रेमी सान्निध्य या संपर्क द्वारा तुष्ट होना चाहता है। वस्तु के सान्निध्य या संपर्क के लिये तो वस्तु की ओर से किसी प्रकार की स्वीकृति या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। पर किसी चेतन प्राणी से प्रेम करके कोई उसके सान्निध्य या संपर्क की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक कि वह उसमें भी सान्निध्य या संपर्क की इच्छा न उत्पन्न कर ले। दूसरी बात यह है कि प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं। इस अंतर्योग के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती। अतः प्रिय को अपने प्रेम की सूचना देना उसके मन को अपने मन से मिलने के लिये न्योता देना है।

अपने प्रेम की सूचना देने के उपरांत प्रेमी प्रिय के हृदय में अपनी ओर कुछ भावों की प्रतिष्ठा चाहता है। पहले कहा जा चुका है कि सहसा उत्पन्न लोभ या प्रीति का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है "अच्छा लगना"। वस्तु के संबंध में तो उसी वस्तु का अच्छा लगना काफी होता है। लोभियों को इस फेर में नहीं पड़ना पड़ता कि जो वस्तु उन्हें अच्छी लग रही है उसे वे भी अच्छे लगें। पर प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे अच्छा लगता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय को अच्छा लगूँ। वह अपना सारा अच्छापन किसी न किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है।

एक दूसरे की ओर आकर्षित दो हृदयों के योग से जीवन में एक नया रस उत्पन्न हो जाता है या दूनी सजीवता आ

जाती है। आनन्द की संभावना भी बहुत अधिक बढ़ जाती है और दुःख की भी। प्रिय के हृदय का आनंद प्रेमी के हृदय का आनंद हो जाता है। अतः एक ओर तो प्रिय के आनंद का मेल हो जाने से प्रेमी संसार की नाना वस्तुओं में कई गुने अधिक आनंद का अनुभव करने लगता है; दूसरी ओर प्रिय के अभाव में उन्हीं वस्तुओं में उसके लिये आनंद बहुत कम या कुछ भी नहीं रह जाता है। वियोग की दशा में तो वे वस्तुएँ उलटा दुःख देने लगती हैं। होते होते यहाँ तक होता है कि प्रेमी के लिये प्रिय के आनंद से अलग आनंद रह ही नहीं जाता। प्रिय के आनंद में ही वह अपना आनंद ढूँढ़ा करता है। दो हृदयों की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभवपथ का द्वार है। प्रेम का यह एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है।

प्रेम का प्रभाव एकांत भी होता है और लोक-जीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। एकांत प्रभाव उस अंतर्मुख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्मक्षेत्र से खींच कर केवल दो प्राणियों के एक छोटे से संसार में बंद कर देता है। उसका उठना-बैठना, चलना-फिरना, मरना-जीना सब उसी घेरे के भीतर होता है। वह उस घेरे के बाहर कोई प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं करता। उसमें जो साहस, धीरता, दृढ़ता, कष्ट-सहिष्णुता आदि दिखाई देती है वह प्रेम-मार्ग के बीच प्रेमोन्माद के रूप में; लोक के बीच कर्त्तव्य के रूप में नहीं। सारांश यह कि इस प्रकार के प्रेम का क्षेत्र सामाजिक और पारिवारिक जीवन से विच्छिन्न होता है। उसमें प्रियपक्ष का प्रबल राग जीवन के अन्य सब पक्षों से पूर्ण विराग की प्रतिष्ठा कर देता है। फ़ारसी के साहित्य में ऐसे ही ऐकान्तिक और लोकबाह्य प्रेम की प्रधानता है। भारतीय साहित्य में गोपियों

के प्रेम को प्रायः यही स्वरूप दिया गया है। भक्ति-मार्ग में प्रायः यही ऐकान्तिक और अनन्य प्रेम लिखा गया है क्योंकि यह एक ऐसा राग है जिसके प्रभाव से विराग की साधना आपसे आप, विना किसी मानसिक प्रयत्न के, हो जाती है।

प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाना पथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत् के वीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप भी करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आसपास चारों ओर सौंदर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौंदर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौंदर्य जगत् के वीच दिखाना चाहता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अंतःप्रकृति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के वीच सौंदर्य-विधान की प्रेरणा करनेवाली एक दिव्य शक्ति के रूप में। मनुष्य का प्रेम-सौंदर्य—वस्तु-सौंदर्य, कर्म-सौंदर्य, वाक्-सौंदर्य, भाव-सौंदर्य सब—देखना और दिखावा चाहता है।

भारतीय प्रवंध-काव्यों की मूल प्रवृत्ति लोक-जीवन से संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर ही रही। आदिकवि वाल्मीकि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दंडकारण्य के विस्तृत कर्मक्षेत्र के वीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवन-यात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलानेवाला है; उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भरनेवाला नहीं। उसके प्रभाव से वनचर्य्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गई है। सारे कँटीले पथ प्रसूनमय हो गये हैं; संपूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है। कोमलाङ्गी सीता

अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कंधे के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्र कोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही हैं। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती बढ़ी आ रही है। राम कुछ मुसकिराकर एक बार प्रेमभरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं; फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीरदर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा! सीता-हरण होने पर राम का जो वियोग सामने आता है वह भी चारपाई पर करवटें बदलानेवाला नहीं है; समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतरवानेवाला है।

उस ऐकान्तिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार बन्द कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज मरीज को एक कोठरी में डाल देता है, हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो एक संजीवनी रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुन्दर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता हटाकर उसमें सरलता ला दे, वह प्रेम धन्य है। जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव, विद्वान् की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर फैला दिखाई दे उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते हैं। भगवद्भक्ति के लिये हम तो प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं। जब कि प्रिय के संबंध से न जाने कितनी वस्तुएँ प्रिय हो जाती हैं तब उस परम प्रिय के सम्बन्ध से सारा जगत् प्रिय हो सकता है। शुद्ध भक्तिमार्ग में जगत् से विरक्त का हम स्थान ढूँढ़ते हैं और नहीं पाते हैं। भक्ति राग की वह दिव्य भूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत् आ जाता है। जो भक्त इस जगत् को ब्रह्म

की ही व्यक्त सत्ता या विभूति समझेगा, भगवान् के लोकपालक और लोकरंजक स्वरूप पर मुग्ध रहेगा; वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक में और फैलाएगा कि चारों ओर से खींच लेगा ? हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं क्योंकि राम की ओर ले जानेवाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है।

ऐकान्तिक और लोकबद्ध, प्रेम के इन दो स्वरूपों का परिचय हो चुका। अब हम प्रेमी और प्रिय, इन दो पक्षों की पारस्परिक स्थिति पर कुछ विचार करना चाहते हैं। प्रेम कहीं तो दोनों पक्षों में युगपद् होता है अर्थात् आरंभ ही से सम रहता है; कहीं पहले एक में उत्पन्न होकर फिर दूसरे में होता है और कहीं एक ही में उत्पन्न होकर रह जाता है, दूसरे में होता ही नहीं अर्थात् विषम ही रह जाता है। पहले कहा जा चुका है कि किसी के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही प्रेमी उसे अपने प्रेम का परिचय देने के लिये आतुर होता है। यह आतुरता तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के लिये होती है जिसके बिना प्रेम सफल नहीं जान पड़ता। तुल्यानुराग के प्रयत्न की भी एक बँधी हुई पद्धति दिखाई पड़ती है।

दूसरों की ओर द्रवित करनेवाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ हैं—करुणा और प्रेम। इनमें से प्रेम का पात्र होने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की विशिष्टता अपेक्षित होती है। इससे दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न कर सकने का निश्चय किसी को जल्दी नहीं हो सकता। पर दया का पात्र होने के लिये केवल दुःख या पीड़ा का प्रदर्शन ही पर्य्याप्त होता है। दया का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। दया मनुष्यमात्र का धर्म है और

प्रणिमात्र उसके अधिकारी हैं। दया यह नहीं देखने जाती कि दुखी या पीड़ित कौन और कैसा है। इसी से प्रेमी कभी तो यह चेष्टा करता दिखाई पड़ता है कि वह भी प्रिय को अच्छा लगे और कभी ऐसे उपायों का अवलंबन करता है जिनसे प्रिय के हृदय में उसके ऊपर दया उत्पन्न हो। दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अंतस् में प्रेम की भूमिका बाँधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो ही जायगा। वह वियोग की अपनी दारुण वेदना प्रिय के कानों तक बराबर पहुँचाता रहता है।

यह न समझना चाहिए कि प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने की यह चाह तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के पूर्व तक ही रहती है। यह प्रेममार्ग की एक सामान्य प्रवृत्ति है जो प्रेमी के हृदय में सदा बनी रहती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न करने की जरूरत होती है उसी प्रकार बराबर बनाए रखने की भी। प्रेम की रखवाली करने के लिये प्रेमी प्रिय के हृदय में दया को बराबर जगाता रहता है। दया या करुणा का भाव जाग्रत रखने की प्रवृत्ति का प्रकर्ष फारसी उर्दू की शायरी में विशेष रूप में पाया जाता है। वहाँ प्रेमी जीते जी यार के कूचे में अपनी कब्र बनवाते हैं, उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियाँ वक्फ करते हैं और बार-बार मरकर अपना हाल सुनाया करते हैं। मरण से बढ़कर करुणा का विषय और क्या हो सकता है? शत्रु तक का मरना सुनकर सहानुभूति का एक-आध शब्द मुँह से निकल आता है। प्रिय के मुख से निकले हुए सहानुभूति के शब्द-सा-प्रिय संसार में और कोई शब्द नहीं हो सकता। 'बेचारा बहुत अच्छा था', प्रिय के मुँह से इस

प्रकार के कुछ शब्दों की संभावना पर ही आशिक लोग अपनी मर जाने की कल्पना बड़े आनंद से किया करते हैं। जब कि सहानुभूति के एक शब्द का इतना मोल है तब अश्रु का तो कोई मोल ही नहीं हो सकता; प्राण के बदले में भी वह सस्ता ही जँचेगा। यदि प्रेमी को यह निश्चय हो जाय कि मर जाने पर प्रिय की आँखों में आई हुई आँसू की एक बूँद वह देख सकेगा तो वह अपना शरीर छोड़ने के लिए तैयार हो सकता है।

यह कहा जा चुका है कि तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा हो जाने पर ही प्रेम को पूर्ण तुष्टि और सफलता प्राप्त होती है। हमारे साहित्य के पुराने आचार्य्यों ने एक पक्ष की प्रीति को रसाभास के अंतर्गत लिया है। जब तक तुल्यानुराग की संभावना रहती है या प्रिय-पक्ष की विरक्ति और उदासीनता का प्रमाण सामने नहीं रहता तब तक रस में त्रुटि नहीं मानी जाती। प्रेमी का तिरस्कार करता हुआ प्रिय जब अन्य में अनुरक्त पाया जाता है तब उसकी विरक्ति का पक्का प्रमाण सामने आ जाता है। ऐसी दशा में भी बने रहनेवाले प्रेम की चर्चा काव्यों में मिलती है। फारसी और उर्दू की शायरी में तो आशिकों की अकसर यह शिकायत रहती है कि "माशूक गैरों से मिला करता है और हमारी ओर ताकता तक नहीं"। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की शिकायत भी कुछ-कुछ इसी ढंग की हो गई थी।

रस और रसाभास की बात छोड़ हमें प्रेम के उस स्वरूप पर विचार करना है जिसमें प्रेमी तो प्रेम में विह्वल रहता है और प्रिय उसकी ओर कुछ ध्यान ही नहीं देता या बराबर उसका तिरस्कार ही करता जाता है। क्या ऐसा प्रेम कोई प्रेम ही नहीं है? यह नहीं कहा जा सकता। प्रेमी तो प्रेम कर चुका,

उसका कोई प्रभाव प्रिय पर पड़े या न पड़े। उसके प्रेम में कोई कसर नहीं। प्रिय यदि उससे प्रेम करके आत्मा को तुष्ट नहीं करता तो इसमें उसका क्या दोष है? तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तक तो उसका वैसा उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। पर जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले से ही नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यंत निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती। इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता है, केवल यही चाहता है—प्रिय से नहीं, ईश्वर से—कि हमारा प्रिय बना रहे और हमें ऐसा ही प्रिय रहे। इसी उच्च दशा का अनुभव करती हुई सूर की गोपियाँ कहती हैं—

जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ, लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु, 'न्हात खसै जनि बार'॥

ऐसे प्रेमी के लिये प्रिय की तुष्टि या सुख से अलग अपनी कोई तुष्टि या सुख रह ही नहीं जाता। प्रिय का सुख-संतोष ही उसका सुख-संतोष हो जाता है। बंकिम बाबू की 'दुर्गेश-नंदिनी' में आयशा का जगतसिंह पर अनुराग इसी उच्च भूमि पर लाकर छोड़ा गया है। जिस दिन से उसे जगतसिंह और तिलोत्तमा के प्रेम का पता चलता है उसी दिन से वह अपने प्रेम को भौतिक कामनाओं से मुक्त करने लगती है और अंत में तिलोत्तमा के साथ जगतसिंह का विवाह कराकर पूर्ण शान्ति के साथ प्रेम के विशुद्ध मानसलोक में प्रवेश करती है।

प्रेमी यदि अपने प्रेम का कोई प्रभाव प्रिय पर न देखे तो उसके सामने प्रेम की यही उच्च-भूमि दिखाई पड़ती है। सान्निध्य या संपर्क की कामना के त्याग द्वारा ही वह प्रेम-रक्षा और शांति-लाभ कर सकता है। यदि उसमें यह क्षमता न होगी तो प्रतिवर्त्तन (Reaction) द्वारा घोर मानसिक विप्लव और पतन की आशंका रहेगी; ईर्ष्या आदि बुरे भावों के संचार के लिये रास्ता खुल जायगा। यहाँ तक कि समय-समय पर क्रोध का दौरा होगा और प्रेम का स्थान वैर ले लेगा।

प्रेम-काव्यों में प्रायः रूप-लोभ ही प्रेम का प्रवर्त्तक दिखाया जाता है। किसी के उत्कृष्ट रूप-गुण पर कोई मुग्ध होता है और उसका प्रेमी बन जाता है। पर प्रेम का एक और कारण, जो रूप-गुण से सर्वथा स्वतंत्र और उसकी अपेक्षा अधिक निश्चित प्रभाववाला होता है, साहचर्य है। देशप्रेम के अन्तर्गत इसका उल्लेख हो चुका है। किसी अरब को उसकी रेगिस्तानी जन्मभूमि से ले जाकर काश्मीर के हरे-भरे, मैदान में रख दें तो भी वह अपने देश के वियोग में रोया करेगा। इसी प्रकार जिन मनुष्यों के बीच कोई बचपन से या बहुत दिनों से रहता चला आता है, उनके प्रति उसके हृदय में एक स्थायी प्रेम हो जाता है। इस साहचर्यगत प्रेम में विशेषता यह होती है कि इसका वेग साहचर्य-काल में तो कुछ अवसरों पर ही रह-रहकर व्यक्त होता है, पर विच्छेद-काल में बराबर उमड़ा रहता है। भाई-बहिन, पिता-पुत्र, इष्ट-मित्र से लेकर चिर-परिचित पशु-पक्षी और वृक्ष तक का प्रेम इसी ढब का होता है। रूप-गुण की भावना से उत्पन्न प्रेम भी आगे चलकर कुछ दिनों में यह साहचर्य-जन्य स्वरूप प्राप्त करता है। अतः प्रेम के इस स्वरूप का महत्त्व बराबर ध्यान में रहना चाहिए।

लोभ या प्रेम की सबसे बड़ी विलक्षणता का उल्लेख करके अब हम यह निबंध समाप्त करते हैं। यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी; जिसके व्यंजक दीर्घ निःश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्ष-पुलक और उछल-कूद भी। इसके विस्तृत शासन के भीतर आनंदात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते हैं। साहित्य के आचार्यों ने इसी से शृङ्गार के दो पक्ष कर दिए हैं—संयोगपक्ष और वियोगपक्ष। कोई और भाव ऐसा नहीं है जो आलंबन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ उत्पन्न करे और न रहने पर बिल्कुल दूसरे प्रकार की। कुछ और भाव भी लोभ या प्रेम का सा स्थायित्व प्राप्त करते हैं—जैसे, क्रोध बहुत दिनों तक टिका रह जाने पर द्वेष या वैर का रूप धारण करता है और जुगुप्सा घृणा या विरक्ति का—पर यह विशेषता और किसी में नहीं पाई जाती। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों पर लोभ या प्रेम के शासन का यही दीर्घ विस्तार देखकर लोगों ने शृङ्गार को 'रसराज़' कहा है।

———

साधना—

लेखक—श्रीरायकृष्णदास

साधना में लेखक ने विभिन्न भावनाओं और विचारों का भावात्मक गुम्फन किया है। इस प्रकार की रचनाओं में प्रच्छन्न कथन की प्रणाली बड़ी भावुक और हृदयस्पर्शी होती है। तत्व के प्रतिपादन की यह पद्धति अनुभूतिपूर्ण होने के कारण साधारण इति-वृत्तात्मक अभिव्यंजना से कहीं अधिक मनोरम एवं प्रभविष्णु हो जाती है। इन छोटे-छोटे टुकड़ों में लेखक ने एक-न-एक तत्त्व, विचार, अथवा भाव का चिन्तन किया है। सभी भावनाएँ अध्यात्म-सम्बन्धी और ऊर्ध्वगामी हैं।

दूसरी तरंग—

अभाव में आविर्भाव—

मैं अपने प्रलाप का गर्व कैसे न करूँ, जिसने तुमसे मेरा संलाप कराया है, और मैं अपने अनमिल जीवन को कैसे अहोभाग्य न समझूँ, जिसने मुझे तुमसे मिलाया है।

मैं अपनी अंधता को कैसे न सराहूँ, जिसने मुझे विश्वचक्षु देकर छिपा मार्ग दिखाया है, और मैं अपनी अकिंचनता को कैसे धन्य न समझूँ, जिससे मुझे परम निधि प्राप्त हुई है।

मैं अपने रुदन पर कैसे नाज़ न करूँ, जिसने मुझे वह गान सिखाया कि मैंने उसे वशीभूत और मुग्ध कर लिया है जिसकी चाह मेरे जीवन की एकमेव वासना थी।

अनादि संगीत—

कौन कहता है कि संगीत अस्थायी कला है? देखो तो, अनन्त में तुम्हारा प्रत्येक स्वर निरन्तर लहरा रहा है। पत्ता-पत्ता उसे ताल दे रहा है।

तुम्हारे विश्व के किसी भी अंश में यदि किसी समय ताल, स्वर और नृत्य, देखने में, बन्द हो जाता है तो वह अंश मृत समझा जाता है। भला तुम्हारे इस सरल संगीत बिना यह विराट् साम्राज्य चल कैसे सकता है?

तुम मुझसे कहते हो कि मैं तुम्हारे गान पर विह्वल और विमुग्ध न होऊँ यह कैसे हो सकता है?

इस एकान्त सघन कुञ्ज में तुम गा रहे हो। चारों ओर सरोवरों में कमल फूल रहे हैं। गुलाब की क्यारियाँ खिली हुई

हैं। वीच-वीच में प्रफुल्ल वेले की वल्लियाँ हैं मानों नवेली प्रकृति के सौंधे ओठों में दशनपंक्ति दमक रही है। भ्रमर मँडरा रहे हैं। परन्तु सब स्तब्ध हैं। तुम्हारे गान के जादू ने उन्हें मोहित कर रखा है।

पर मैं ही शान्त नहीं हूँ। शान्त कैसे रहूँ। न जाने कैसे तुम मेरी हृदय-गाथा जान गये हो और उसी को गा रहे हो। मेरा मन तो गरोर-मरोर उठता है। फिर मैं विह्वल और विमुग्ध कैसे न होऊँ?

आज मेरे अहोभाग्य हैं। तुम्हारे गान की बदौलत मेरी हृदय-गाथा अनन्त में निरन्तरता और नित्यता पा रही है।

प्राणेश, तुम मेरे हृदय की समस्त गाथा इसी प्रकार गा डालो।

तुम तो मेरे पास हो—

मैं कुटी बन्द करके आसन पर सगर्व बैठा था। उस कुटी को मैं विश्व समझता था और अपने को उसका महाराज! अपने मद में मैं चूर था।

न जाने कैसे तुम भीतर आ गये। मन्त्रमुग्ध की भाँति आसन का एक कोना मैंने तुम्हारे लिए छोड़ दिया। तुम बैठ गये। मैं धीरे-धीरे खसकने लगा। उस पर तुम्हारा अधिकार बढ़ने लगा। मैं भूमि पर आ गया। तुम आसन पर पूर्णतः आसीन हो गये।

मैं निर्निमेष नयनों से, अवाक् होकर, तुम्हारी सुन्दरता निरखने लगा। मुझे उसमें प्रतिक्षण नवीनता मिलने लगी। इधर मेरे हाथ तुम्हारे पाँव पलोटने लगे।

अकस्मात् प्रचंड पवन चलता है। कुटी हिलने लगती है। घनघोर घटा घिर कर बरसने लगती है। विद्युत्पात होने लगते

हैं। प्रलयकाल उपस्थित होता है। पर मैं अशांत, विचलित या भीत नहीं होता हूँ। क्योंकि तुम मेरे पास हो।

जाग्रति—

हे नाथ, मुझे उस लोक में जाग्रत करो जहाँ मैं सारे संसार के दुःख को अपने ऊपर ले लेने के सुख में मत्त हुआ विचरूँ। निखिल विश्व का ताप जहाँ मेरे रक्त की ऊष्मा बनाये रक्खे और अनंत विश्व-वेदना मेरे संगीत की सामग्री बने।

जहाँ एकमात्र तुम्हीं मेरे संगी हो, और सब प्राणियों की कामना मुझमें एकत्र होकर तुमसे प्रणय करने की शक्ति दे।

जहाँ भुवन का भुवन मेरा भवन हो और ससीम जीवन के वदले असीम जीवन पाकर मैं तुम्हारे साथ नित्य नई क्रीड़ा किया करूँ।

समय की सहायता—

जिस समय तुम देखते हो कि सूर्य की ज्वाला बरसाने वाली रश्मियों से संसार भस्म हुआ चाहता है, उस समय तुम अपनी करुणा से द्रवित होकर मेघ रूप में वरस कर सारी पृथ्वी को जीवन प्रदान करते हो। उसी प्रकार जव तुम देखते हो कि संताप से मेरा हृदय भस्म हुआ चाहता है, उस समय तुम मेरी आँखों से सावन-भादों की झड़ी लगा देते हो और मेरा हृदय शीतल हो जाता है।

जिस समय तुम देखते हो कि विशालकाय गजराज किसी परम लघु उद्वेग से हार कर विचलित हो रहा है, उस समय तुम उसके गण्डस्थलों से मद वहाने लगते हो और वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। उसी प्रकार जिस समय तुम देखते हो कि मेरा मन क्षुब्ध हो रहा है और क्रुद्ध सागर में पड़े पोत-सी मेरी दशा हो

रही है उस समय तुम मेरे आँसू बहाने लगते हो और मैं शांत हो जाता हूँ।

मिलन वेला—

प्रियतम से मिलने की बेला आ गई।

रागवती उषा आकाश से मिलकर उसमें लीन हो रही है और सौभाग्य-सूर्य का उदय हो रहा है।

दिनकर के लिए पद्म अपना हृदय खोल रहे हैं, भ्रमर गान कर रहे हैं और निस्तब्ध पवन तरंगित हो रहा है।

संसार प्रसुप्त है और प्रियतम खड़ा हुआ है। चलो मिलने का ऐसा अवसर भला कहाँ मिलेगा ?

चुम्बन—

दिन भर मैं उनके लिए अपने को सजाने और गर्वपूर्वक दर्पण में देखने में लगा रहा।

संध्या हुई और सूर्य के वियोग से प्रकृति निस्तब्ध हो गई। सारे दृश्य बदल गये। मैं भी थककर सो गया।

वे कृपापूर्वक आये पर ममता के कारण मुझे जगाया नहीं। केवल मेरा चुम्बन किया और चल दिये।

उस कोमल चुम्बन से मेरी कठोर निद्रा भङ्ग हुई। मैं आँखें मलकर चकित-सा देखने लगा। उनके चरणों की चाँप सुनाई पड़ती थी। मैंने उनके पीछे दौड़ना चाहा। पर चुम्बन ही के आनंद में मैं इतना विह्वल और कृतकृत्य हो रहा था कि मेरे पैर न उठे।

त्वरा—

प्राणेश के लिए प्रस्तुत होकर मैं आँगन में बैठी हूँ। मेरे हाथों में सजी हुई आरती का थाल है! पर अभी तक वे आये नहीं।

जिसे समाचार देने को भेजा था वह भी नहीं लौटा। समय चला जा रहा है। आरती के दीपक मन्द पड़े जा रहे हैं। क्या जाने कब वे बुझ जायँ।

माला के फूल एक एक करके खिल रहे हैं और उनके सुगन्ध को पवन चुराये लिये जा रहा है। नूपुरों के घुँघरू बज-बजकर एक एक करके झड़े जा रहे हैं। कुछ ही समय में वे नीरव हो जायँगे।

चित्त की मंजुल भावनाएँ उद्वेग बन-बन कर विनष्ट होती जा रही हैं। पर अब भी समय है। मैं ही उनके पास क्यों न चलूँ।

———

'समुद्र-संतरण' और 'बिसाती'

लेखक—श्रीजयशङ्कर 'प्रसाद'

ये भाव-प्रधान कहानियाँ हैं। इनमें कथांश कम और वातावरण एवं भाव-चित्रण अधिक है। अभिव्यञ्जना की प्रणाली काव्यात्मक तथा भाषा आलंकारिक है। कथा के मूल भाव के अनुरूप ही कथा-पीठिका की भी स्थापना इन रचनाओं की विशेषता है। इनमें आधार-आधेय का सुन्दर सामंजस्य सर्वत्र प्राप्त होता है। आत्म-सन्तुष्टि और भावुकता के सम्मुख सामाजिक प्रतिबन्ध एवं विधि-विधान की कुछ चल नहीं सकती—इसे 'समुद्र-संतरण' में चित्रित किया गया है। 'बिसाती' का प्रतिपाद्य विषय है प्रेम-जनित अनन्यता, कोमलता, स्वतंत्रता और विरक्ति जो काल और स्थिति का बन्धन नहीं मानती।

तीसरी तरंग—

१ समुद्र-संतरण

क्षितिज में नील जलधि और व्योम का चुम्बन हो रहा है। शान्त प्रदेश में शोभा की लहरियाँ उठ रही हैं। गोधूली का करुण प्रतिबिम्ब, वेला की वालुकामयी भूमि पर दिगन्त की प्रतीक्षा का आवाहन कर रहा है।

नारिकेल के निभृत कुंजों में समुद्र का समीर अपना नीड़ खोज रहा है। सूर्य्य लज्जा या क्रोध से नहीं, अनुराग से लाल, किरणों से शून्य, अनन्त रसनिधि में डूबना चाहता है। लहरियाँ हट जाती हैं। अभी डूबने का समय नहीं है, खेल चल रहा है।

सुदर्शन प्रकृति के उस महा अभिनय को चुपचाप देख रहा है। इस दृश्य में सौन्दर्य का करुण संगीत था। कला का कोमल चित्र नील-धवल लहरों में बनता-बिगड़ता था। सुदर्शन ने अनुभव किया कि लहरों में सौर जगत झोंके खा रहा है। वह इसे नित्य देखने आता; परन्तु राजकुमार के वेष में नहीं। उसके वैभव के उपकरण दूर रहते। वह अकेला साधारण मनुष्य के समान इसे देखता, निरीह छात्र के सदृश इस गुरु दृश्य से कुछ अध्ययन करता। सौरभ के समान चेतन परमाणुओं से उसका मस्तक भर उठता। वह अपने राजमंदिर को लौट जाता।

सुदर्शन बैठा था किसी की प्रतीक्षा में। उसे न देखते हुए, मछली फँसाने का जाल लिये, एक धीवर-कुमारी समुद्र-तट से कगारों पर चढ़ रही थी—जैसे पंख फैलाये तितली। नील भ्रमरी-

सी उसकी दृष्टि एक क्षण के लिये कहीं नहीं ठहरती थी। श्याम-सलोनी गोधूली-सी वह सुन्दरी सिकता में अपने पद-चिह्न छोड़ती हुई चली जा रही थी!

राजकुमार की दृष्टि उधर फिरी। सायंकाल का समुद्र-तट उसकी आँखों में दृश्य के उस पार की वस्तुओं का रेखा-चित्र खींच रहा था। जैसे; वह जिसको नहीं जानता था, उसको कुछ-कुछ समझने लगा हो, और वही समझ, वही चेतना, एक रूप रख कर सामने आ गई हो। उसने पुकारा—"सुंदरी!"

जाती हुई सुन्दरी धीवर-बाला लौट आई। उसके अधरों में मुसकान, आँखों में व्रीड़ा और कपोलों पर यौवन की आभा खेल रही थी, जैसे नील मेघ-खण्ड के भीतर स्वर्ण-किरण अरुण का उदय।

धीवर-बाला आकर खड़ी हो गई। बोली—"मुझे किसने पुकारा?"

"मैंने।"

"क्या कहकर पुकारा?"

"सुन्दरी।"

"क्यों मुझमें क्या सौन्दर्य है? और है भी कुछ, तो क्या तुमसे विशेष?"

"हाँ, मैं आज तक किसी को सुन्दरी कहकर नहीं पुकार सका था; क्योंकि यह सौन्दर्य-विवेचना मुझमें अब तक नहीं थी।"

"आज अकस्मात् यह सौन्दर्य-विवेक तुम्हारे हृदय में कहाँ से आया?"

"तुम्हें देखकर मेरी सोई हुई सौन्दर्य-तृष्णा जाग गई।"

"परन्तु भाषा में जिसे सौन्दर्य कहते हैं, वह तो तुममें पूर्ण है।"

"मैं यह नहीं मानता; क्योंकि फिर सब मुझी को चाहते,

सब मेरे पीछे बावले बने घूमते। यह तो नहीं हुआ। मैं राजकुमार हूँ; मेरे वैभव का प्रभाव चाहे सौंदर्य का सृजन कर देता हो। पर मैं उसका स्वागत नहीं करता। उस प्रेम-निमंत्रण में वास्तविकता कुछ नहीं।"

"हाँ, तो तुम राजकुमार हो! इसीसे तुम्हारा सौंदर्य सापेक्ष है।"

"तुम कौन हो?"

"धीवर-बालिका।"

"क्या करती हो?"

"मछली फँसाती हूँ।"—कहकर उसने जाल को लहरा दिया।"

"जब इस अनन्त एकान्त में लहरियों के मिस प्रकृति अपनी हँसी का चित्र दत्तचित्त होकर बना रही है, तब तुम उसीके अञ्चल में ऐसा निष्ठुर काम करती हो?"

"निष्ठुर है तो, पर मैं विवश हूँ। हमारे द्वीप के राजकुमार का परिणय होनेवाला है। उसी उत्सव के लिये सुनहली मछलियाँ फँसाती हूँ। ऐसी ही आज्ञा है।"

"परन्तु वह ब्याह तो होगा नहीं।"

"तुम कौन हो?"

"मैं भी राजकुमार हूँ। राजकुमारों को अपने चक्र की बात विदित रहती है, इसीलिये कहता हूँ।"

धीवर-बाला ने एक बार सुदर्शन के मुख की ओर देखा; फिर कहा—

"तब तो मैं इन निरीह जीवों को छोड़े देती हूँ।"

सुदर्शन ने कुतूहल से देखा, बालिका ने अपने अञ्चल से सुनहली मछलियों की भरी हुई मूठ समुद्र-जल में बिखेर दी, जैसे जल-बालिका वरुण के चरण में सुवर्ण-सुमनों का उपहार दे रही

हो। सुदर्शन ने प्रगल्भ होकर उसका हाथ पकड़ लिया, और कहा—"यदि मैंने झूठ कहा हो, तो ?"

"तो कल फिर जाल डालूँगी।"

"तुम केवल सुन्दरी ही नहीं, सरल भी हो।"

"और तुम प्रपंचक हो।"—कहकर धीवर-वाला ने एक निश्वास ली, और सन्ध्या के समान अपना मुख फेर लिया। उसकी अलकावली जाल के साथ मिलकर निशीथ का नवीन अध्याय खोलने लगी। सुदर्शन सिर नीचा करके कुछ सोचने लगा। धीवर-वालिका चली गई। एक मौन अंधकार टहलने लगा। कुछ काल के अनंतर दो व्यक्ति एक अश्व लिये आये। सुदर्शन से बोले—"श्रीमन्, विलम्ब हुआ। वहुत-से निमन्त्रित लोग आ रहे हैं। महाराज ने आपको स्मरण किया है।"

"मेरा यहाँ पर कुछ खो गया है, उसे ढूँढ़ लूँगा तब लौटूँगा।"

"श्रीमन्, रात्रि समीप है।"

"कुछ चिंता नहीं, अभी चंद्रोदय होगा।"

"हम लोगों को क्या आज्ञा है ?"

"जाओ।"

सब लोग गये। राजकुमार सुदर्शन बैठा रहा। चाँदी का थाल लिये रजनी समुद्र से कुछ अमृत-भिक्षा लेने आई। उदार सिन्धु देने के लिये उमड़ उठा। लहरियाँ सुदर्शन के पैर चूमने लगीं। उसने देखा, दिगंत-विस्तृत जलराशि पर कोई गोल और धवल पाल उड़ाता हुआ अपनी सुन्दर तरणी लिये हुए आ रहा है। उसका विषय-शून्य हृदय व्याकुल हो उठा। उत्कट प्रतीक्षा—दिगंत-गामिनी अभिलाषा—उसकी जन्मान्तर की स्मृति बनकर उस निर्जन प्रकृति में रमणीयता की—समुद्र-गर्जन में

संगीत की—सृष्टि करने लगी। धीरे-धीरे उसके कानों में एक कोमल अस्फुटनाद गूँजने लगा। उस दूरागत स्वर्गीय संगीत ने उसे अभिभूत कर दिया। नक्षत्र मालिनी प्रकृति, हीरे-नीलम से जड़ी पुतली के समान, उसकी आँखों का खेल बन गई।

सुदर्शन ने देखा, सब सुन्दर है! आज तक जो प्रकृति उदास चित्र बनकर सामने आती थी, वह उसे हँसती हुई मोहिनी और मधुर सौन्दर्य से ओतप्रोत दिखाई देने लगी। अपने में और सब में फैली हुई उस सौन्दर्य की विभूति को देखकर सुदर्शन की तन्मयता उत्कण्ठा में बदल गई। उसे उन्माद हो चला। इच्छा होती थी कि वह समुद्र बन जाय। उसकी उद्वेलित लहरों से चन्द्रमा की किरणें खेलें, और वह हँसा करे। इतने में ध्यान आया, उस धीवर-बालिका का। इच्छा हुई कि वह भी वरुण-कन्या-सी चन्द्र-किरणों से लिपटी हुई उसके विशाल वक्षस्थल में विहार करे। उसकी आँखों में गोल धवल पाल वाली नाव समा गई, कानों में अस्फुट संगीत भर गया। सुदर्शन उन्मत्त था। कुछ पद-शब्द सुनाई पड़े। उसे ध्यान आया कि मुझे लौटा ले जाने के लिये कुछ लोग आ रहे हैं। वह चञ्चल हो उठा। फेनिल जलधि में फाँद पड़ा। लहरों में तैर चला।

वेला से दूर—चारों ओर जल, आँखों में वही धवल पाल, कानों में अस्फुट संगीत! सुदर्शन तैरते-तैरते थक चला था। संगीत और वंशी समीप आ रही थी। एक छोटी-सी मछली पकड़ने की नाव आ रही थी। पास आने पर देखा, धीवर-बाला वंशी बजा रही है, और नाव अपने मन से चल रही है।

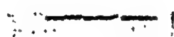
धीवर-बालिका ने कहा—"आओगे?"

लहरों को चीरते हुए सुदर्शन ने पूछा—"कहाँ ले चलोगी?"

"पृथ्वी से दूर, जल-राज्य में; जहाँ कठोरता नहीं केवल

शीतल, कोमल और तरल आलिङ्गन है; प्रवञ्चना नहीं, सीधा आत्म-विश्वास है; वैभव नहीं, सरल सौन्दर्य है।"

धीवर-बाला ने हाथ पकड़कर सुदर्शन को नाव पर खींच लिया। दोनों हँसने लगे। चन्द्रमा और जलनिधि भी।



उद्यान का शैल-माला के नीचे एक हरा-भरा छोटा-सा गाँव है। वसन्त का सुन्दर समीर उसे आलिङ्गन करके फूलों के सौरभ से उसके झोपड़ों को भर देता है। तलहटी के हिम-शीतल झरने उसको अपने बाहुपाश में जकड़े हुए हैं। उस रमणीय-प्रदेश में एक स्निग्ध-संगीत निरन्तर चला करता है, जिसके भीतर बुल-बुलों का कलनाद, कम्प और लहर उत्पन्न करता है।

दाड़िम के लाल फूलों की रंगीली छाया सन्ध्या की अरुण किरणों से चमकीली हो रही थी। शीरीं उसी के नीचे शिला-खंड पर बैठी हुई सामने गुलाबों की झुरमुट देख रही थी, जिसमें बहुत से बुलबुल चहचहा रहे थे, समीरण के साथ छूल छुलैया खेलते हुए अवकाश को अपने कलरव से गुञ्जरित कर रहे थे।

शीरीं ने सहसा अपना अवगुंठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो हँस पड़ी। गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरन्द मुँह में भरे दो नील-भ्रमर उस गुलाब से उड़ने में असमर्थ थे, भौंरों के पर निस्पन्द थे। कँटीली झाड़ियों की कुछ परवाह न करते हुए बुलबुलों का उनमें घुसना और उड़ भागना शीरीं तन्मय होकर देख रही थी।

उसकी सखी जुलेखा के आने से उसकी एकान्त भावना भंग हो गई। अपना अवगुंठन उलटते हुए जुलेखा ने कहा—"शीरीं! वह तुम्हारे हाथों पर आकर बैठ जानेवाला बुलबुल, आजकल नहीं दिखाई देता?"

आह खींचकर शीरीं ने कहा—"कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। वसन्त तो आ गया पर वह नहीं लौट आया।"

"सुना है कि ये सब हिन्दोस्तान में बहुत दूर तक चले जाते हैं। क्या यह सच है शीरीं ?"

"हाँ प्यारी ! उन्हें स्वाधीन विचरना अच्छा लगता है। इनकी जाति बड़ी स्वतन्त्रता-प्रिय है।"

"तूने अपनी घुँघराली अलकों के पाश में उसे क्यों न बाँध लिया ?"

"मेरे पाश उस पक्षी के लिए ढीले पड़ जाते थे।"

"अच्छा लौट आवेगा, चिन्ता न कर। मैं घर जाती हूँ" शीरीं ने सिर हिला दिया।

ज़लेखा चली गई।

जब पहाड़ी आकाश में सन्ध्या अपने रंगीले पट फैला देती, जब विहङ्ग केवल कलरव करते पंक्ति बाँधकर उड़ते हुए गुंजान-झाड़ियों की ओर लौटते और अनिल में उनके कोमल-परों से लहर उठती, जब समीर अपनी झोंकेदार तरङ्गों में बार-बार अन्धकार को खींच लाता, जब गुलाब अधिकाधिक सौरभ लुटा-कर हरी चादर में मुँह छिपा लेना चाहते थे; तब शीरीं की आशा-भरी दृष्टि कालिमा से अभिभूत होकर पलकों में छिपने लगी। वह जागते हुए भी एक स्वप्न की कल्पना करने लगी।"

"हिन्दोस्तान के एक समृद्धिशाली नगर की एक गली में एक युवक पीठ पर गट्ठर लादे घूम रहा है। परिश्रम और अनाहार से उसका मुख विवर्ण है। थककर वह किसी के द्वार पर बैठ गया है। कुछ बेचकर उस दिन की जीविका प्राप्त करने की उत्कंठा उसकी दयनीय बातों से टपक रही है। परन्तु वह गृहस्थ कहता है—"तुम्हें उधार देना हो तो दो, नहीं तो अपनी गठरी उठाओ। समझे आगा ?"

युवक कहता है—"मुझे उधार देने की सामर्थ्य नहीं।"

"तो मुझे भी कुछ नहीं चाहिए।"

शीरीं अपनी इस कल्पना से चौंक उठी। काफिले के साथ अपनी सम्पत्ति लादकर खैबर के गिरि-संकट को वह अपनी भावना से पादाक्रान्त करने लगी।

उसकी इच्छा हुई कि हिंदोस्तान के प्रत्येक गृहस्थ के पास हम इतना धन रख दें कि वे अनावश्यक होने पर भी उस युवक की सब वस्तुओं का मूल्य देकर उसका बोझ उतार दें परन्तु सरला शीरीं निस्सहाय थी। उसके पिता एक क्रूर-पहाड़ी सर्दार थे। उसने अपना सिर झुका लिया। कुछ सोचने लगी।

संध्या का अधिकार हो गया। कलरव बन्द हुआ। शीरीं की साँसों के समान समीर की गति अवरुद्ध हो उठी। उसकी पीठ शिला से टिक गई।

दासी ने आकर उसको प्रकृतिस्थ किया। उसने कहा—"बेगम बुला रही हैं चलिए मेंहदी आ गई है।"

महीनों हो गये। शीरीं का ब्याह एक धनी सर्दार से हो गया। झरने के किनारे शीरीं के बाग में शवरी खींची है। वसंत का पवन अपने एक-एक थपेड़े में सैकड़ों फूलों को रुला देता है। मधुधारा बहने लगती है। बुलबुल उसकी निर्दयता पर क्रन्दन करने लगते हैं। शीरीं सब सहन करती रही। सर्दार का मुख उत्साहपूर्ण था। सब होने पर भी वह एक सुंदर प्रभात था।

एक दुर्बल, और लम्बा युवक पीठ पर गट्ठर लादे सामने आकर बैठ गया। शीरीं ने उसे देखा पर वह किसी की ओर देखता नहीं। अपना सामान खोलकर सजाने लगा।

सर्दार अपनी प्रेयसी को उपहार देने के लिये काँच की प्याली और काश्मीरी सामान छाँटने लगे।

शीरीं चुपचाप थी। उसके हृदय कानन में कलरवों का क्रंदन हो रहा था। सर्दार ने दाम पूछा। युवक ने कहा—"मैं उपहार देता हूँ बेचता नहीं। ये विलायती और काश्मीरी सामान मैंने चुनकर लिये हैं। इनमें मूल्य नहीं हृदय भी लगा है। ये दाम पर नहीं बिकते।"

सर्दार ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"तब मुझे न चाहिये ले जाओ उठाओ।"

"अच्छा उठा ले जाऊँगा। मैं थका हुआ आ रहा हूँ थोड़ा अवसर दीजिये मैं हाथ-मुँह धो लूँ।" कहकर युवक भरभराई हुई आँखों को छिपाते, उठ गया।

सर्दार ने समझा झरने की ओर गया होगा। विलम्ब हुआ पर वह न आया। गहरी चोट और निर्मम व्यथा को सहन करते, कलेजा हाथ से पकड़े हुए, शीरीं गुलाब की झाड़ियों की ओर देखने लगी। परंतु उसकी आँसू-भरी आँखों को कुछ न सूझता था। सर्दार ने प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ रखकर पूछा—"क्या देख रही हो?"

"एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिंदोस्तान की ओर चला गया था। वह लौटकर आज सबेरे दिखाई पड़ा। पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा तो वह उधर कोहकाफ़ की ओर भाग गया!" शीरीं के स्वर में कम्पन था फिर भी वे शब्द बहुत सम्हलकर निकलते थे। सर्दार ने हँसकर कहा—"फूल को बुलबुल की खोज? आश्चर्य है!"

बिसाती अपना सामान छोड़ गया, फिर लौटकर नहीं आया। शीरीं ने बोझ तो उतार लिया पर दाम नहीं दिया।

उपन्यास—

लेखक श्री प्रेमचन्द

सर्वप्रथम लेखक ने उपन्यास की परिभाषा तथा विषय का विचार किया है। इसके उपरांत उसने यथार्थ और आदर्शवाद के रूप एवं अंतर को समझाकर उपन्यास-रचना में उनके प्रयोग पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इन दोनों का समन्वय कर उसने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद-का प्रतिपादन किया है। साथ ही 'कला के लिए कला' के सिद्धांत के औचित्य का विचार किया। आगे चलकर अनुभवी लेखक ने अनेक भारतीय और पाश्चात्य उपन्यास लेखकों के कथानक और विषय के चयन की भूमिका का परिचय दिया है और यह वतलाया है कि प्राचीन एवं नवीन कथानकों में क्या अंतर होता है। अंत में कहानी-रचना के मूल तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। ऐसे विचार-प्रधान निबंध में भी व्यावहारिक भाषा का ही सुंदर उपयोग हुआ है।

चौथी तरंग—

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की राएँ नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिसपर सभी लोग सहमत हों। मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। किन्हीं दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं, पर इतनी समानता पर भी उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है उसी भाँति सब आदमियों के चरित्रों में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और भिन्नत्व में अभिन्नत्व—दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है। संतान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी संतान प्यारी, न हो। लेकिन इस संतान में प्रेम की मात्राएँ हैं, उसके भेद हैं। कोई तो संतान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्मभीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो।

कोई औचित्य का लेश मात्र भी विचार नहीं करता, जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय करना अपना ध्येय समझता है। चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा संतान-प्रेम वह है जहाँ संतान की सच्चरित्रता प्रधान कारण होती है, जब कि पिता संतान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी संतान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानवी गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी संतान-प्रेम ही है जब पिता के लिये पुत्र घी का लड्डू होता है; जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह संतान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत हो सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट, कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए।

यहीं से उपन्यासकारों के दो गरोह हो गये हैं। एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी। यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ, नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता

का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं; और चूँकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं। उनकी नेकी का फल उलटा मिलता है। बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनकी बदी का फल उलटा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है। यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा रहता है। चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग़-धब्बा रहता है। इसलिये यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। वास्तव में यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ़ बुराई नज़र आने लगती है। इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिये यथार्थवाद अत्यंत उपयुक्त है क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखाएँ जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तब वह आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव-स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिये ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात

मिले, वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख़याल होता है कि जब हमें क़िस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़े ही क्यों? अँधेरी कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तब इच्छा होती है कि किसी बाग़ में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठाएँ। इस कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है, लेकिन काइयेंपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक-ज्ञान-विहीन चरित्रों के ।९
दर्शन से एक विशेष आनंद होता है। यथार्थवाद यदि हमारी आँख खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठे जो सिद्धांतों की मूर्ति मात्र हों। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।

इसलिये वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिये यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे

चरित्रों की सृष्टि करनी है जो अपने सद्‌व्यवहार और सद्‌विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है वह दो कौड़ी का है। चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिये यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो। महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिये उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। यही कमज़ोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्शों की छाप लगी हुई है। हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन के लिये न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्‌भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिये ज़रूरत है कि उसका चरित्र दृढ़ हो, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाए, बल्कि उनको परास्त करे, जो वासनाओं के पंजे में न फँसे; बल्कि उनका दमन करे, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकले। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिये की जाय। कला के लिये कला के

सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलंबित हो। ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है। बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती। जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिये की जाती है, तब वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नए-नए विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आंदोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष में ही नहीं, यूरुप के बड़े-बड़े विद्वान भी अपनी रचना द्वारा किसी न किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवाह नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं। अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है। इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिये लिखा जाता है उसका महत्त्व क्षणिक होता है। ह्यूगो का 'ला मिजरेबुल', टालस्टाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए साहित्य की उच्च कोटि की हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शा, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं। हमारा खयाल है कि कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करता है कि उसमें मनुष्य की

मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। कला के लिए कला का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनैतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रंदन सुनाई देता है, तब कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे। हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाए, वरना उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इङ्गलैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर, हास्य-रस-प्रधान रचना है। "पिकविक" का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की जबान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र आकार, वेष सबकी रचना हो गई। "साइलस मारनर" भी अंग्रेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका हैं, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तस्वीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गई थी और समय पर उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। "स्कारलेट लेटर" भी हथर्न की बहुत ही सुंदर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजाङ्कुर उन्हें एक पुराने मुकदमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गए, इसलिए भारतीय-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रङ्गभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला, जो हमारे गाँव में रहता था। एक जरा सा इशारा, जरा सा बीज, लेखक

के मस्तिष्क में पहुँच कर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। "एम० ऐंड्रूज़ हिम" रडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन एक इञ्जिनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वही उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों में मिले। वे घंटों अपनी खिड़की से लोगों को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी अँग्रेजी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी। इसका फल था 'जेन आयर'।

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिए अंकुर मिल जाते हैं। हालकेन का नाम पाठकों ने सुना है। आपकी एक उत्तम रचना का अनुवाद हाल ही में "अमरपुरी" के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। "मेटरलिंक" बेलजियम के जगतविख्यात नाटककार हैं। उन्हें बेलजियम का शेक्सपियर कहते हैं। उनका "मोनावोन" नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालेन' एक जर्मन ड्रामा से। शेक्सपियर के नाटकों का मूल स्थान खोज-खोज कर कितने की विद्वानों ने 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी

खोज करके भी कितने ही लोग 'डाक्टर' बन सकते हैं। 'तिलस्म होशरुबा' फारसी का एक बृहत् पोथा है, जिसके रचयित अकबर के दरबार वाले फौजी कहे जाते हैं, हालाँ कि हमें य मानने में संदेह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गय है। कम से कम २०००० पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व० बाबू देवकी नंदन खत्री ने चंद्रकान्ता और चंद्रकान्ता-संतति का बीजांकु 'तिलस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएँ हैं जिन पर हजारों बरस से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आए हैं और शायद हजार वर्षों तक लिखते जायँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर कित नाटक और कितनी कथाएँ रची गयी हैं, कौन नहीं जानता यूरोप में भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लि एक अशेष आधार है। "दो भाइयों की कथा", जिसका पता पहल मिश्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रांस स भारतवर्ष तक एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गई है। यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों-की-त्यों मिलती है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पनाशक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नए कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता जो पुराने कथानकों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुन्तला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नहीं। रचनाशक्ति थोड़ी बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके हैं, उन्हें तो फिर झिझक ही नहीं रहती, कलम उठाया और लिखने लगे, लेकिन नये लेखकों को पहले कुछ लिखते समय

ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर उनकी कल्पता जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य-विषयों से उभरती है, किसी की श्रवण से, किसी को नए, सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय में यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण से बहुधा नई-नई कल्पनाएँ जाग्रत होती हैं। ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी उपदेश, शिक्षा अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं। कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुजर जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-सम्पादक ने इसकी परीक्षा करने का एक नया ढङ्ग निकाला है। दल-के-दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक कागज के टुकड़े पर कोई नाम लिख देता है और उम्मेदवार को वह टुकड़ा देकर उस नाम के सम्बन्ध में ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालों का रङ्ग क्या है? कपड़े कैसे हैं? कहाँ रहती है? उसका बाप क्या काम करता है? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? यदि युवक ने इन प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर न दिए, तो वह उन्हें अयोग्य समझ बिदा कर देता है। जिसकी कल्पना इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा विभाग में नवीनता तो अवश्य है, पर भ्रामकता की मात्रा अधिक है।

लेखकों के लिये एक नोटबुक का रहना बहुत आवश्यक है।

यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटवुक नहीं रक्खी, पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटवुक में दर्ज कर लेने से वड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के पास उस वक्त तक नोटवुक अवश्य रहती है जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर प्रकार की चीजों को अलग अलग खानों में संग्रहीत कर लें। बरसों के अभ्यास के बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन आरम्भकाल में तो नोटवुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, वर्णन स्वाभाविक हों; तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिए, एक उपन्यासकार के नोटवुक का नमूना—

अगस्त २१, १२ बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी श्याम वर्ण 'सुफेद बाल' आँखें तिरछी, पलकें भारी, ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूछें ऐंठी हुई। सितम्बर १; समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब काला; हरा चमकीला, लहरें फेनदार, उसका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटे से झाग उड़ती हुई।

उन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियों के प्लाट कहाँ मिलते हैं ? तो आपने कहा—चारों तरफ। अगर लेखक अपनी आँखें खुली रक्खे, तो उसे हवा में से भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार-पत्रों में, मनुष्यों के वार्तालाप में, और हजारों जगहों से सुन्दर कहानियाँ बनाई जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देखभाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप-ही-आप अपने मतलब की बात छाँट लेती है। दो साल हुआ, मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातों ही बात में यह चर्चा छिड़ गई कि यदि दो

के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जायँ तो क्या हो ? उस अंकुर से मैंने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकालीं।

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए। वाल्टर वेसेंट अपनी "उपन्यास-कला" नामक पुस्तक में लिखते हैं—"उपन्यासकार को अपनी सामग्री आले पर रक्खी पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिये जो नित्य ही चारों तरफ मिलते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे वे तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अब हमारे लिये क्या बाकी रहा। यह सत्य है, लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े कंजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते ? पुस्तकों में नए चरित्र न मिलें, पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।"

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किए हैं; वह भी देखिए—अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है; वह वायु के स्पंदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अंग्रेज उपन्यासकार को जानता हूँ जिसने अपनी एक कहानी में फ्रांस के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर साहित्यिक संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा, आपको इस समाज के निरीक्षण करने

का ऐसा अवसर कहाँ मिला (फ्रांस रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखाई पड़ते) मालूम हुआ कि उसने एक वार, केवल एक वार, कई प्रोटेस्टेंट युवकों को बैठे और वातें करते देखा था। वस, एक वार का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिस पर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी, जो एक इंच से एक योजन की खवर लाती है और जो शिल्पी के लिए वड़े महत्त्व की वस्तु है।

मि० जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने में वड़े प्रवीण हैं। उनका कहना है कि कहानी के रहस्य को कई भागों में वाँटना चाहिए। पहले छोटी-सी वात खुले, फिर उससे कुछ वड़ी और अन्त में मुख्य रहस्य खुले। लेकिन हर भाग में कुछ न कुछ रहस्योद्‌घाटन अवश्य होना चाहिए, जिसमें पाठक की इच्छा सव कुछ जानने के लिए वलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियों में इस वात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अंत में रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियों में यही सव से वड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में तभी मजा आता है जव कि वही चरित्र अपराधी सिद्ध हो जिस पर कोई भूलकर भी न संदेह कर सकता था।

उपन्यास-कला में यह वात भी वड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक भी कल्पनाशील होता है। इसलिए वह ऐसी वातें पढ़ना पसंद नहीं करता जिनकी वह आसनी से कल्पना कर सकता है। इसलिए वह यह नहीं चाहता कि लेखक सव कुछ खुद कह डाले और पाठक की

कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी ही अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानी में मजा नहीं आता। किसी चरित्र की रूप-रेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलिया-नवीसी करने की जरूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य बातें कह देनी चाहिए। किसी दृश्य को तुरंत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत-सी अनावश्यक बातों के आ जाने की सम्भावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें आप ही आप मस्तिष्क से निकल जाती हैं केवल मुख्य बातें स्मृति पर अंकित रह जाती हैं। तब उस दृश्य के वर्णन करने में अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं।

दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हम उन्हें राम और श्याम कहेंगे!

राम—गुड ईवनिंग श्याम, कहो आनंद तो है?

श्याम—हलो राम! तुम आज किधर भूल पड़े?

राम—कहो क्या रङ्ग-ढङ्ग है? तुम तो ईद के चाँद हो गए।

श्याम—मैं तो ईद का चाँद न था, आप गूलर के फूल भले ही हो गए।

राम—चलते हो संगीतालय की तरफ?

श्याम—हाँ चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बातें बताना ही उसका ध्येय है तो वह केवल इतना ही लिख देगा—

"अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।"

———

अवशेष—

लेखक के भावात्मक निबन्ध हिन्दी-गद्य-साहित्य की अपूर्व रचनाएँ हैं। ऐतिहासिक लक्ष्यों के आधार पर जो स्मृति–जनित भावावेश उत्पन्न होता है—उसका सजीव चित्रण इन निबन्धों का विषय है। प्रस्तुत निबन्ध में लेखक का लक्ष्य आगरे का किला है। भाव की आकुलता दो रूपों में दिखाई पड़ती है। कहीं उसका प्रवाह धारावाहिक होता है और कहीं तरंगवत्। इस निबन्ध में भाव-प्रवाह का द्वितीय रूप ही दिखाई पड़ता है। विषय के अनुकूल ही अभिव्यंजना और भाषा की शैली भी मिलती है। लाक्षणिकता के साथ भावप्रेरित अनूठी उद्भावनाएँ, जड़ता में सजीवता के आरोप के साथ साम्यमूलक गूढ़ संकेतों और अलंकारों की विविधता विषय को काव्यात्मक बना देती है।

पाँचवीं तरंग—

महान् मुग़ल सम्राट् अकबर का प्यारा नगर—आगरा—आज मृतप्राय-सा हो रहा है। उसके ऊबड़-खाबड़ धूल भरे रास्तों और उन तंग गलियों में यह स्पष्ट देख पड़ता है कि किसी समय यह नगर भारत के उस विशाल समृद्धिपूर्ण साम्राज्य की राजधानी रहा था; किन्तु ज्यों-ज्यों उसका तत्कालीन नाम "अकबराबाद" भूलता गया त्यों-त्यों उसकी वह समृद्धि भी विलीन होती गई। इस नगरी के वृद्ध क्षीण हृदय जुमा मसजिद में अब भी जीवन के कुछ चिह्न देख पड़ते हैं, किन्तु इसका बहुत कुछ श्रेय मुसलिम काल की उन मृतात्माओं को है, अपने अंचल में समेट कर भी विकराल मृत्यु जिनको मानव समाज के स्मृति-संसार से सर्वदा के लिये निर्वासित नहीं कर सकी। काल के क्रूर हाथों उनका नश्वर शरीर नष्ट हो गया, सब कुछ लोप हो गया, किन्तु स्मृति-लोक में आज भी उनका पूर्ण स्वरूप विद्यमान है।

मुग़ल साम्राज्य भंग हो गया किन्तु फिर भी उन दिनों की स्मृतियाँ आगरा के वायुमंडल में रम रही हैं। जमीन से मीलों ऊँची हवा में आज भी ऐश्वर्य-विलास की मादक सुगंध, भग्न-प्रेम या मृत आदर्शों पर बहाये गये आँसुओं की वाष्प, तथा उच्छ्वासों और उसासों से तप्त वायु फैली हुई है। भग्न मानव-प्रेम की वह समाधि, मुग़ल साम्राज्य के आहत यौवन का यह स्मारक, ताज, आज भी अपने आँसुओं से तथा अपनी आहों से आगरा के वायु-मंडल को वाष्पमय कर रहा है। आज भी उस चिरविरही प्रेमी के आँसुओं का सोता यमुना नदी में जाकर अदृश्य रूप से मिलता है। ताज में दफनाये गये मुग़ल सम्राट् के तड़पते हुए युवा-हृदय की धुकधुकाहट से यमुना के वक्षःस्थल पर छोटी-छोटी

तरंगें उठती हैं, और दूर दूर तक उसके निःश्वासों की मरमर ध्वनि आज भी सुन पड़ती है। कठोर भाग्य के सम्मुख सुकोमल मानव-हृदय की विवशता को देखकर यमुना भी हताश हो जाती है; ताज के पास पहुँचते पहुँचते बल खा जाती है, उस समाधि को छूकर तो उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, आँसुओं का प्रवाह उमड़ पड़ता है; वह सीधा बह निकलता है।

आगरे का वह उन्नत किला, अपने गत यौवन पर इतरा इतरा कर रह जाता है। प्रातःकाल बालसूर्य की आशामयी किरणें जब उस रक्तवर्ण किले पर गिरती हैं; तब वह चौंक उठता है। उस स्वर्ण प्रभात में वह भूल जाता है कि अब उसके उन गौरवपूर्ण दिनों का अंत हो गया है, और एक बार पुनः पूर्ण-तया कान्तियुक्त हो जाता है। किन्तु कुछ ही समय में उसका सुख-स्वप्न भंग हो जाता है, उसकी वह ज्योति, और उसका वह सुखमय उल्लास, उदासी तथा निराशा पूर्ण सुनसान वातावरण में परिणत हो जाते हैं। आशापूर्ण हर्ष से दमकते हुए उस उज्ज्वल रक्तवर्ण मुख पर पतन की स्मृति-छाया फैलने लगती है। और दिवस भर के उत्थान के बाद संध्या समय, अपने पतन पर क्षुब्ध मरीचिमाली जब प्रतीची के पादप पुंज में अपना मुख छिपाने को दौड़ पड़ते हैं और विदा होने से पूर्व अश्रुपूर्ण नेत्रों से जब वे उस अमर करुण कहानी की ओर एक निराशापूर्ण दृष्टि डालते हैं, तब तो वह पुराना क़िला रो पड़ता है, और अपने लाल लाल मुख पर, जहाँ आज भी सौंदर्यपूर्ण विगत-यौवन की झलक देख पड़ती है अन्धकार का काला घूँघट खींच लेता है।

वर्तमानकालीन दशा पर ज्योंही आत्मविस्मृति का पट गिरता है, अन्तःचक्षु खुल जाते हैं और पुनः पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाती हैं, उस पुराने रंगमंच पर पुनः उस विगत जीवन

का नाटक देख पड़ता है। सुन्दर-सुम्मन बुर्ज को देख एक बार फिर उस दिन की याद आ जाती है, जब दुःख और करुणापूर्ण वातावरण में मृत्यु-शय्या पर पड़ा कैदी शाहजहाँ ताज को देख देखकर उसासें भर रहा था, जहानआरा अपने सम्मुख निराशापूर्ण निस्संग करुण जीवन के भीषण तम को आते देखकर रो रही थी, जब उनके एक मात्र साथी, श्वेत पत्थरों तक के पाषाण-हृदय पिघल गये थे और जब वह रत्न-खचित बुर्ज भी रोने लगता था, उसके आँसू ढुलक ढुलक कर ओस की बूँदों के रूप में इधर-उधर बिखर रहे थे।

और वह मोती मसजिद, लाल लाल किले का वह उज्वल मोती..............आज वह भी खोखला हो गया। उसका ऊपरी आवरण, उसकी चमक-दमक वैसी ही है किन्तु उसकी वह आत्मा अब लुप्त हो गई। उसका वह रिक्त भीतरी भाग धूलि धूसरित हो रहा है, और आज एकाध व्यक्ति के अतिरिक्त उस मसजिद में परम-पिता का भी नामलेवा नहीं मिलता। प्रति दिन सूर्य पूर्व से पश्चिम को चला जाता है, सारे दिन तपने के बाद संध्या हो जाती है, सिहर कर वायु बहती है, किन्तु ये शोयत प्रस्तर-खंड सुनसान अकेले ही खड़े अपने दिन गिना करते हैं। उस निर्जन स्थान में एकाध व्यक्ति को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि उन दिनों यहाँ आनेवाले व्यक्तियों में से किसी की आत्मा अपनी पुरानी स्मृतियों के बंधन में पड़कर खिंची चली आई है। प्रार्थना के समय "मुअज्जन" की आवाज़ सुनकर यही प्रतीत होता है कि शताब्दियों पहले गूँजनेवाली हलचल, चहल-पहल तथा शोर-गुल की प्रतिध्वनि आज भी उस सुन्दर परित्यक्त मसजिद में गूँज रही है।

उस लाल लाल किले में मोती मसजिद, खास महल आदि

श्वेत भव्य भवनों को देखकर यही प्रतीत होता है कि अपने प्रेमी की, अपने संरक्षक की मृत्यु से उदासीन होकर इस किले को वैराग्य हो गया, अपने अरुण शरीर पर शोयत भस्म रमा ली। उस महान् किले का यह वैराग्य, उस जीवनपूर्ण स्थान की यह निर्जनता; ऐश्वर्य-विलास से भरपूर सोते में यह उदासी, और उन रंग-बिरंगे, चित्रित तथा सजे-सजाये महलों का यह नग्न स्वरूप, साधारण दर्शकों तक के हृदयों को हिला देता है; तब क्यों न वह किला संन्यास ले ले! संन्यास, संन्यास..................तभी तो चिरसहचरी यमुना को भी इसने लात लगा कर दूर हटा दिया, ठुकरा कर अपने से विलग किया और अपने सारे बाह्य द्वार बन्द कर लिये। अब तो इनी-गिनी बार ही उसके नेत्र-पटल खुलते हैं, संसार को दो नज़र देखकर पुनः समाधिस्थ हो जाता है वह किला। उस दुःखी दिल को सताना, उस निर्जन स्थान को फिर मनुष्य की याद दिलाना ....भाई! सँभल कर जाना वहाँ, वहाँ के क्षुधित पाषाण; वह प्यासी भूमि..............न जाने कितनी आत्माओं को निगल कर न जाने कितनों के यौवन को कुचल कर, एवं न जाने कितनों के दिलों को छिन्न-भिन्न करके उनके जीवन-रस को पीकर भी तृप्त नहीं हुई; आज भी वह आपके आँसुओं को पीने के लिये, कुछ क्षणों के लिये ही क्यों न हो आपकी सुखद घड़ियों को भी विनष्ट करने को उतारू है।

उस किले का वह लाल लाल जहाँगीरी महल—सुरा, सुन्दरी और संगीत के उस अनन्य उपासक की वह विलास-भूमि—आज भी वह यौवन की लाली से रँगा हुआ है। प्रतिदिन अन्धकार-पूर्ण रात्रि में जब भूतकाल की यवनिका उठ जाती है, तब पुनः उन दिनों का नाट्य होता देख पड़ता है, जब अनेकों की

वासनायें अतृप्त रह जाती थीं, कइयों की जीवन-घड़ियाँ निराशा
ही अन्धकारमय वातावरण में बीत जाती थीं, और जब-प्रेम
उस बालुकामय शान्ति-जल-विहीन ऊसर में पड़े पड़े अने
उसकी गरमी के मारे तड़पते थे। उस सुनसान परित्यक्त महल
रात्रि के समय सुन पड़ती हैं उल्लासपूर्ण हास्य तथा विषादम
करुण क्रन्दन की प्रतिध्वनियाँ। वे अशान्त आत्माएँ आज भ
उन वैभव-विहीन खण्डहरों में घूमती हैं और सारी रात रो
कर अपने अपार्थिव अश्रुओं से उन पत्थरों को लथपथ कर दे
हैं; किन्तु जब धीरे धीरे पूर्व में अरुण की लाली देख पड़ती ह
आसमान पर स्वच्छ नीला नीला परदा पड़ने लगता है, तब पु
इन महलों में वही सन्नाटा छा-जाता है, और निस्तब्धता
एकछत्र साम्राज्य हो जाता है। उन मृतात्माओं की यदि को
स्मृति शेष रह जाती है तो उनके वे बिखरे हुए अश्रुकण, कि
क्रूर काल उन्हें भी सुखा देना चाहता है। यहाँ की शान्ति य
कभी भंग होती है तो केवल दर्शकों की पद-ध्वनि से त
"गाइडों" की टूटी-फूटी अँगरेजी शब्दावली द्वारा। रात औ
दिन में कितना अन्तर होता है! विस्मृति के पट के इधर औ
उधर......एक ही पट की दूरी, वास्तविकता और स्वप्न; भू
तथा वर्तमान......कुछ ही क्षणों की देरी और हजारों वर्षों क
सा भेद......कुछ भी समझ नहीं पड़ता कि यह है क्या।

उस मृतप्राय किले में अब केवल कंकालावशेष रह गए हैं
उसका हृदय भी बाहर निकल पड़ा हो ऐसा प्रतीत होता है
नक्षत्र-खचित आकाश के चँदवे के नीचे पड़ा है यह काले पत्थ
का टूटा हुआ सिंहासन, जिस पर किसी समय गुदगुदे मखमल
का आवरण छाया हुआ होगा; और जिस पत्थर तक को सुशो-
भित करने के लिए, जिसे सुसज्जित बनाने के वास्ते अनेकानेक

प्रयत्न किए जाते थे, आज उसी की यह दशा है। वह पत्थर है, किन्तु उसमें भी भावुकता थी; वह काला है, किन्तु फिर भी उसमें प्रेम का शुद्ध स्वच्छ सोता बहता था। अपने निर्माता के वंशजों का पूर्ण पतन तथा उनके स्थान पर छोटे छोटे नगण्य शासकों को सिर उठाते देखकर जब इस किले ने वैराग्य ले लिया, अपने यौवनपूर्ण रक्तमय गात्रों पर भगवाँ डाल लिया, शोयत भस्म रमा ली, तब तो उसका वह छोटा हृदय भी क्षुब्ध होकर तड़प उठा, अपने आवरणों में से बाहर निकल पड़ा, वह बेचारा भी रो दिया। वह पत्थर-हृदय भी अन्त में विदीर्ण हो गया और उसमें से भी रक्त की दो बूँदें टपक पड़ीं। मुगलों के पतन को देख कर पत्थरों तक का दिल टूट गया; उन्होंने भी रुधिर के आँसू बहाए.........परन्तु वे मुगल, उन महान् सम्राटों के वे निकम्मे वंशज, ऐश्वर्य-विलास में पड़े सुख-नींद सो रहे थे;.........उनकी वही नींद चिर निद्रा में परिणत हो गई।

और वह शीशमहल, मानव-काञ्चन-हृदय के टुकड़ों से सुशोभित वह स्थान कितना सुन्दर, दीप्तिमान, भीषण तथा साथ ही कितना रहस्यमय भी है। यौवन, ऐश्वर्य तथा राजमद से उन्मत्त सम्राटों को अपने खेल के लिये मानव-हृदय से अधिक आकर्षक वस्तु न मिली। अपने विनोद के लिये, अपना दिल बहलाने के हेतु उन्होंने अनेकों हृदय चकनाचूर कर डाले। भोले भाले हृदयों के उन स्फटिक टुकड़ों से उन्होंने अपने विलास-भवन को सजाया। एक बार तो वह जगमगा उठा। टूट कर भी हृदय अपनी सुन्दरता नहीं खोते, उसके विपरीत रक्त से सने हुए वे टुकड़े अधिकाधिक आभापूर्ण देख पड़ते हैं। परन्तु जब साम्राज्य के यौवन की रक्तिम ज्योति विलीन हो गई, जब उस चमकते हुए रक्त की लाली भी कालिमा में परिणत होने लगी,

तब तो मानव-जीवन पर कालिकामयी यवनिका डालनेवाली उस कराल मृत्यु का भयङ्कर तमसावृत्त पटल उस स्थान पर गिर पड़ा; उस शीशमहल में अन्धकार ही अन्धकार छा गया।

मानव-हृदय एक भयङ्कर पहेली है। दूसरों के लिये एक बन्द पुर्जा है; उसके भेद, उसके भावों को जानना एक असम्भव बात है और उन हृदयों की उन गुप्त गहरी दरारों का अन्धकार······ एक हृदय के अन्धकार को भी दूर करना कितना कठिन होता है; और विशेषतया उन दरारों को प्रकाशपूर्ण बनाना··········· और यहाँ तो अनेकों मानव-हृदय थे, सैकड़ों हजारों—और उन हृदयों के टुकड़े, वे सिकुड़े हुए रक्त से सने खण्ड·········उन्होंने अपनी दरारों में सञ्चित अन्धकार को उस शीशमहल में उडेल दिया। मुगलों ने शीशमहल की सृष्टि की, और सोचा कि प्रत्येक मानव-हृदय में उन्हीं का प्रतिबिम्ब दिखाई देगा·······परन्तु यह कालिमा और मानव-हृदय की वे अनबूझ पहेलियाँ···········। मुगलों ने उमड़ते हुए यौवन में, प्रेम के प्रवाह में एक चमक देखी और उसी से सन्तुष्ट हो गये। दर्शकों को भी सम्यक् प्रकारेण बताने के लिये तथा उस अन्धकार को क्षणभर के लिये मिटाने के हेतु गन्धक जलाकर आज भी ज्योति की जाती है। मुगलों के समान दर्शक भी उन काँच के टुकड़ों में एक बार अपना प्रतिबिम्ब देख कर समझते हैं कि उन्होंने सम्पूर्ण दृश्य देख लिया। परन्तु उस अन्धकार को कौन मिटा सकता है? कौन मानव-हृदय के तल को पहुँच सका है? किसे उन छोटे छोटे दिलों का रहस्य जान पड़ा है? कौन उन टूटे हुए हृदयों की सम्पूर्ण व्यथा को, उनकी कसक को समझ सका है?·········· यह अन्धकार तो निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

सुन्दरता में ताज का प्रतियोगी, ऐतमादुद्दौला का मकबरा,

भाग्य की चञ्चलता का मूर्तिमान स्वरूप है। राह राह भटकने वाले भिखारी का मकबरा, भूखों मरते तथा भाग्य की मार से पीड़ित रङ्क की कब्र ऐसी होगी, यह कौन जानता था, यह श्वेत समाधि भाग्य के कठोर थपेड़े खाये हुए व्यक्ति के सुखान्त जीवन की कहानी है। श्वेत पत्थर के इस मकबरे के स्वरूप में सौभाग्य घनीभूत हो गया है। यौवन-मद से उन्मत्त साम्राज्य में नूरजहाँ के उत्थान के साथ ही वासनाओं के भावी अन्धड़ के आगम की सूचना देनेवाली तथा उस अन्धड़ में भी साम्राज्य के पथ को प्रदीप्त करनेवाली वह ज्योति मुग़ल स्थापत्य-कला की एक अद्भुत वस्तु है।

और उस मृतप्राय नगरी से कोई पाँच मील दूर स्थित है वह अस्थि-विहीन पञ्जर। अपनी प्रियतमा नगरी की भविष्य में होनेवाली दुर्दशा की आशङ्का से अभिभूत होकर ही अकबर ने अपना अन्तिम निवासस्थान उन नगरी से कोसों दूर बनाने का आयोजन किया था। अकबर का सुकोमल हृदय मिट्टी में मिलकर भी अपनी कृतियों की दुर्दशा नहीं देख सकता था, और न देखना ही चाहता था। उस शान्त-वातावरण-पूर्ण सुरम्य उद्यान में स्थित यह सुन्दर समाधि अपने ढङ्ग की एक ही है। अकबर के व्यक्तित्व के समान ही समाधि दूर से एक साधारण सी वस्तु जान पड़ती है, किन्तु ज्यों ज्यों उसके पास जाते हैं, उस समाधि-भवन में पदार्पण करते हैं, त्यों त्यों उसकी महत्ता, विशालता एवं विशेषताएँ अधिकाधिक दिखाई पड़ती हैं। उस महान् अव्यावहारिक धर्म 'दीन-ए-इलाही' के इस एकमात्र स्मारक को निर्माण करने में अकबर ने अनेकानेक वास्तुकलाओं के आदर्शों का अनोखा सम्मिश्रण किया था।

ध्रुव की ओर सिर किये अकबर अपनी कब्र में लेटा था।

एक ध्रुव को लेकर ही उसने अपने समस्त जीवन तथा सारी नीति की स्थापना की थी, और उसके उस महान् आदर्श ने, विश्वबन्धुत्व के उस टिमटिमाते हुए ध्रुव ने मृत अकबर को भी अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अकबर का वह छोटा सा शव उस विशाल समाधि में भी नहीं समा सका, वह वहाँ शान्ति से नहीं रह सका। विश्व-प्रेम तथा मानव-भ्रातृत्व के प्रचारक अकबर के अन्तिम अवशेष, वे मुट्ठी भर हड्डियाँ भी विश्व में मिल जाना चाहती थीं।) विशाल हृदय अकबर मरकर भी कठोर पत्थरों की उस विशाल, किन्तु आत्मा की दृष्टि से बहुत ही संकुचित, परिधि में नहीं समा सका। अपने अप्राप्त आदर्शों की ही अग्नि में जलकर उसकी अस्थियाँ भी भस्मसात् हो गईं, और वह भस्म वायुमण्डल में व्याप्त होकर विश्व के कोने कोने में समा गई। अकबर की हड्डियाँ भस्मीभूत हो गईं, परन्तु अपने आदर्शों को न प्राप्त कर सकने के कारण उस महान् सम्राट् की वह प्रदीप्त हृदय-ज्वाला आज भी बुझी नहीं है; उस मिट्टी के दीपक रूपी हृदय में अगाध मानव-स्नेह भरा है, उसमें सदिच्छाओं तथा शुभ भावनाओं की शुद्ध श्वेत वत्ती पड़ी है, और वह दिया तिल तिल कर जलता है। टिमटिमाती हुई लौ आज भी अकबर की समाधि पर जल रही है, और धार्मिक सङ्कीर्णता के अन्धकार से पूर्ण, विश्व के सदृश गोल तथा विशाल गुम्बज में वह उस महान् आदर्श की ओर इङ्गित करती है, जिसको प्राप्त करने के लिये शताब्दियों पहिले अकबर ने प्रयत्न किया था, और जिसे आज भी भारतीय राष्ट्र नहीं प्राप्त कर सका है।

(मानव-जीवन एक पहेली है, और उससे भी अधिक अनबूझ वस्तु है विधि का विधान। मनुष्य जीवन के साथ खेलता है, जीवन ही उसके लिये मनोरञ्जन की एकमात्र वस्तु है, और वही

जीवन इस लोक में फैल कर संसार-व्यापी हो जाता है। संसार उस बिखरे हुए जीवन को देखकर हँस देता या ठुकरा देता है। परन्तु जीवन बीत चुकने पर जब मनुष्य उसे समेट कर इस लोक से बिदा लेता है, तब संसार उस विगत आत्मा के संसर्ग में आई हुई वस्तुओं पर प्रहार कर या उन्हें चूम कर समझ लेता है कि वह उस अन्तर्हित आत्मा के प्रति अपने भाव प्रकट कर रहा है। उस मृत व्यक्ति के पाप या पुण्य का भार उठाते हैं, उसके जीवन से सम्बद्ध ईंट और पत्थर उसकी स्मृतियों के अवशेष। किसका कृत्य और किसे यह दण्ड ·········परन्तु यही संसार का नियम है, विधि का ऐसा ही विधान है।

बिखरे पड़े हैं, मुग़ल सम्राटों के जीवन के 'भग्नावशेष' उस मृतप्राय नगरी में। जिन्होंने उस नगरी का निर्माण किया था उनका अन्त हो गया, उनका नामलेवा भी न रहा। सब कुछ विनष्ट हो गया, वह गौरव, वह ऐश्वर्य, वह समृद्धि, वह सत्ता सब विलीन हो गयी। मुग़ल साम्राज्य के उन महान् मुग़ल सम्राटों की स्मृतियाँ, उन स्मृतियों के वे रहे-सहे अवशेष, यत्र-तत्र बिखरे हुए वैभव-विहीन वे खण्डहर, उन सम्राटों के विलास स्थान, ऐश्वर्य के वे आधार, उनके मनोभावों के वे स्मारक············ सब शताब्दियों से धूलि-धूसरित हो रहे हैं, पानी-पत्थर, सरदी-गरमी की मार सह रहे हैं। उन्हें निर्माण करने में, उनके निर्माताओं के लिए विलास और सुख की सामग्री एकत्र करने में, जो-जो पाप तथा सहस्रों दरिद्रियों तथा पीड़ितों के हृदयों को कुचल कर जो जो अत्याचार किये गये थे, उन्हीं सबका प्रायश्चित्त आगरे के ये भग्नावशेष कर रहे हैं। कब जाकर यह प्रायश्चित्त सम्पूर्ण होगा, यह कौन जानता है कि कुछ बता सके।

तुलसीदास की भावुकता—

लेखक—पं० रामचन्द्र शुक्ल

इस आलोचनात्मक निबंध में कुशल समीक्षक ने तुलसीदास की भावुकता का विवेचन किया है। राम-कथा के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान कर कवि ने बड़ी ही सहृदयता और अनुराग से उनका चित्रण किया है। इन चित्रों में अनुभवी कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। यही आलोचना का मुख्य आधार है। प्रस्तुत निबंध में समीक्षक ने आलोचना की व्याख्यात्मक पद्धति का अनुसरण किया है—जो उसकी प्रतिनिधि शैली है। समीक्षा में भारतीय मर्यादा एवं सिद्धान्त को ही मानदण्ड माना गया है।

छठीं तरंग—

प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। राम-कथा के भीतर ये स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं—राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वन-गमन; चित्रकूट में राम और भरत का मिलन; शबरी का आतिथ्य; लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप; भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामीजी ने अच्छी तरह पहचाना है, इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है।

एक सुन्दर राजकुमार के छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और वन-वन फिरने से अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है? इस दृश्य का गोस्वामीजी ने मानस, कवितावली और गीतावली तीनों में अत्यन्त सहृदयता के साथ वर्णन किया है। गीतावली में तो इस प्रसंग के सबसे अधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्ग में उन्होंने ग्राम-वधुओं का सन्निवेश किया है। ये स्त्रियाँ राम-जानकी के अनुपम सौंदर्य्य पर स्नेहशिथिल हो जाती हैं, उनका वृत्तांत सुनकर राजा की निष्ठुरता पर पछताती हैं, कैकेयी की कुचाल पर भला-बुरा कहती हैं। सौंदर्य्य के साक्षात्कार से थोड़ी देर के लिये उनकी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं, वे अपने को भूल जाती हैं। यह कोमलता उपकार-बुद्धि की जननी है।

राम-जानकी के अयोध्या से निकलने का दृश्य वर्णन करने में गोस्वामीजी ने कुछ उठा नहीं रखा। सुशीलता के आगार

रामचन्द्र प्रसन्नमुख निकलकर दास-दासियों को गुरु के सपुर्द कर रहे हैं; सबसे वही करने की प्रार्थना करते हैं जिससे राजा का दुःख कम हो। उनकी सर्वभूतव्यापिनी सुशीलता ऐसी है कि उनके वियोग में पशु-पक्षी भी विकल हैं। भरतजी जब लौटकर अयोध्या आए, तब उन्हें सर-सरिताएँ भी श्री-हीन दिखाई पड़ीं, नगर भी भयानक लगा। भरत को यदि राम-गमन का संवाद मिल गया होता तो हम इसे भरत के हृदय की छाया कहते। पर घर में जाने के पहले उन्हें कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं था। इससे हम सर-सरिता के श्री-हीन होने का अर्थ उनकी निर्जनता, उनका सन्नाटापन लेंगे। लोग राम-वियोग में विकल पड़े हैं। सर-सरिता में जाकर स्नान करने का उत्साह उन्हें कहाँ? पर यह अर्थ हमारे आपके लिये है। गोस्वामीजी ऐसे भावुक महात्मा के निकट तो राम के वियोग में अयोध्या की भूमि ही विषाद-मग्न हो रही है, आठ-आठ आँसू रो रही है।

चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन से संघटित उत्कर्ष की दिव्य-प्रभा देखने योग्य है। यह झाँकी अपूर्व है! 'भायप भगति' से भरे भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ सुनते हैं कि यहाँ पर राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखों में आँसू भर लेते हैं। मार्ग में लोगों से पूछते जाते हैं कि राम किस वन में हैं। जो कहता है कि हम उन्हें सकुशल देखे आते हैं, वह उन्हें राम-लक्ष्मण के समान ही प्यारा लगता है। प्रिय-संबंधी आनंद के अनुभव की आशा देनेवाला एक प्रकार से उस आनंद का जगानेवाला है—'उद्दीपन' है। सब माताओं से पहले राम कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिले। क्यों? क्या

उसे चिढ़ाने के लिये ? कदापि नहीं। कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिलने की सबसे अधिक आवश्यकता थी। अपना महत्त्व या सहिष्णुता दिखाने के लिये नहीं, उसके परितोष के लिये। अपनी करनी पर कैकेयी को जो ग्लानि थी, वह राम ही के दूर किए हो सकती थी, और किसी के किए नहीं। कैकेयी को ग्लानि थी या नहीं, इस प्रकार संदेह का स्थान गोस्वामीजी ने नहीं रखा। कैकेयी की कठोरता आकस्मिक थी, स्वभावगत भी होती तो भी राम की सरलता और सुशीलता उसे कोमल करने में समर्थ थी।

जिस समाज के शील-सन्दर्भ की मनोहारिणी छटा को देख वन के कोल-किरात मुग्ध होकर सात्त्विक वृत्ति में लीन हो गए, उसका प्रभाव उसी समाज में रहनेवाली कैकेयी पर कैसे न पड़ता ?

उस पुण्य-समाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता भी मिल गई। रामचरितमानस में वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना, तुलसी के ही विशाल 'मानस' में सम्भव थी। यह सम्भावना उस समाज के भीतर बहुत से भिन्न-भिन्न वर्गों के समावेश द्वारा संघटित की गई है। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वशुर और जामातृ, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारों का, उपस्थित प्रसङ्ग के धर्म-गाम्भीर्य्य और भावोत्कर्ष के कारण, अत्यंत मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ। धर्म के उस स्वरूप को देख सब मोहित हो गए—क्या नागरिक, क्या ग्रामीण और क्या जङ्गली। यदि भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र देखना हो तो इस राज-समाज में देखिए। कैसी परिष्कृत भाषा में, कैसी प्रवचन-पटुता के

साथ, प्रस्ताव उपस्थित होते हैं, किस गम्भीरता और शिष्टता के साथ बात का उत्तर दिया जाता है, छोटे बड़े की मर्य्यादा का किस सरसता के साथ पालन होता है ! सबकी इच्छा है कि राम अयोध्या को लौटें; पर उनके स्थान पर भरत वन को जायँ, यह इच्छा भरत को छोड़ शायद ही और किसी के मन में हो। अपनी प्रबल इच्छाओं को लिए हुए लोग सभा में बैठते हैं; पर वहाँ बैठते ही धर्म के स्थिर और गम्भीर स्वरूप के सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं का कहीं पता नहीं रह जाता। राजा के सत्य पालन से जो गौरव राजा और प्रजा दोनों को प्राप्त होता दिखाई दे रहा है, उसे खण्डित देखना वे नहीं चाहते। जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्त्व के पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दें; उसे वे कलेजे पर पत्थर रखकर मानने को तैयार हो जाते हैं।

इस प्रसङ्ग में परिवार और समाज की ऊँची-नीची श्रेणियों के बीच कितने सम्बन्धों का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, देखिए—

(१) राजा और प्रजा का सम्बन्ध लीजिए। अयोध्या की सारी प्रजा अपना सब काम धन्धा छोड़ भरत के पीछे राम के प्रेम में उन्हीं के समान मग्न चली जा रही है और चित्रकूट में राम के दर्शन से आह्लादित होकर चाहती है कि चौदह वर्ष यहीं काट दें।

(२) भरत का अपने भाई के प्रति जो अलौकिक स्नेह और भक्ति-भाव यहाँ से वहाँ तक झलकता है, वह तो सबका आधार ही है।

(३) ऋषि या आचार्य के सम्मुख प्रगलभता प्रकट होने के भय से भरत और राम अपना मत तक प्रकट कर सकुचाते हैं।

(४) राम सब माताओं से जिस प्रकार प्रेम-भाव से मिले,

वह उनकी शिष्टता का ही सूचक नहीं है, उनके अंतःकरण की कोमलता और शुद्धता भी प्रकट करता है।

(५) विवाहिता कन्या को पति की अनुगामिनी देख जनकजी यह जो हर्ष प्रकट करते हैं—

पुत्रि ! पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥

वह धर्म-भाव पर मुग्ध होकर ही।

(६) भरत और राम दोनों जनक को पिता के स्थान पर कहकर सब भार उन्हीं पर छोड़ते हैं।

(७) सीताजी अपने पिता के डेरे पर जाकर माता के पास बैठी हैं। इतने में रात हो जाती है और वे असमञ्जस में पड़ती हैं—

कहत न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥

पति तपस्वी के वेश में भूशय्या पर रात काटें और पत्नी उनसे अलग राजसी ठाट-बाट के बीच रहे, यही असमञ्जस की बात है।

(८) जब से कौशल्या आदि आई हैं, तब से सीता बराबर उनकी सेवा में लगी रहती हैं।

(९) ब्राह्मण वर्ग के प्रति राज-वर्ग के आदर और सम्मान का जैसा मनोहर स्वरूप दिखाई पड़ता है, वैसी ही ब्राह्मणवर्ग में राज्य और लोक के हित-साधन की तत्परता झलक रही है।

(१०) केवट के दूर से ऋषि को प्रणाम करने और ऋषि के उसे आलिङ्गन करने में उभय पक्ष का व्यवहार-सौष्ठव प्रकाशित हो रहा है।

(११) वन्य कोल-किरातों के प्रति सबका कैसा मृदुल और सुशील व्यवहार है।

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति

में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है! जीवन स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं! इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता। जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वाङ्गपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में ही है जिसके प्रभाव से रामचरित-मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है। वात्सल्य भाव का अनुभव करके पाठक तुरन्त बालक राम-लक्ष्मण के प्रवास का उत्साहपूर्ण जीवन देखते हैं जिसके भीतर आत्मावलम्बन का विकास होता है। फिर आचार्य-विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीता-राम के परम पवित्र दाम्पत्य-भाव के दर्शन करते हैं। इसके उपरान्त अयोध्या-त्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है। तदनन्तर पथिक-वेशधारी राम-जानकी के साथ साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के उस विशुद्ध सात्त्विक प्रेम का अनुभव करते हैं जिसे हम दाम्पत्य, वात्सल्य आदि कोई विशेषण नहीं दे सकते, पर जो मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है।

रमणीय वन-पर्वत के बीच एक सुकुमारी राजवधू को साथ लिए दो वीर आत्मावलम्बी राजकुमारों को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनों में परिवर्तित करते पाकर वे "वीरभोग्या वसुन्धरा"

की सत्यता हृदयंगम करते हैं। सीता-हरण पर विप्रलंभ-शृङ्गार का माधुर्य्य देखकर पाठक फिर लंका-दहन के अद्भुत, भयानक और वीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए राम-रावण-युद्ध के रौद्र और युद्धवीर तक पहुँचते हैं। शान्तरस का पुट तो बीच-बीच में बराबर मिलता ही है। हास्यरस का पूर्ण समावेश रामचरित-मानस के भीतर न करके नारद-मोह के प्रसंग में उन्होंने किया है। इस प्रकार काव्य के गूढ़ और उच्च उद्देश्य को समझनेवाले, मानव-जीवन के सुख और दुःख दोनों पक्षों के नाना रूपों के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर, गोस्वामीजी के महत्त्व पर मुग्ध होते हैं, और स्थूल वहिरंग दृष्टि रखनेवाले भी, लक्षण-ग्रन्थों में गिनाए हुए नव रसों और अलंकारों पर, अपना आह्लाद प्रकट करते हैं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी मनुष्य-जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियों का जो सन्निवेश कर सके, वह रामचरित की विशेषता के कारण। इतने अधिक प्रकार की मानव-दशाओं का सन्निवेश आपसे आप हो गया। ठीक है, पर उन सब दशाओं का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भाव-प्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्दशक्ति की सिद्धि के नहीं हो सकता। मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामीजी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्षपुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनता तुलसीदासजी के हृदय में विंवप्रतिविंव भाव से विद्यमान है।

गोस्वामीजी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है? यदि तीव्रता न होती, भावों का पूर्ण उद्रेक उनके वचनों में न होता, तो वे इतने सर्वप्रिय कैसे होते? भावों के साधारण उद्गार से ही सबकी तृप्ति नहीं हो सकती। यह बात अवश्य है जो भाव सबसे अधिक प्रकृतिस्थ है, उसकी व्यंजना सबसे अधिक गूढ़ और ठीक है। जो प्रेमभाव अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ उन्होंने प्रकट किया है, वह अलौकिक है, अविचल है और अनन्य है। वह घन और चातक का प्रेम है।

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥

अपना उद्देश्य वह आप ही है। उसकी प्यास, उसकी उत्कंठा सदा बनी रहे, इसी में उसकी मर्य्यादा है; इसी में उसका महत्त्व है। चातक को मेघ का जीवों को सुख देना अत्यंत प्रिय लगता है। वह जो बारहों महीने चिल्लाता रहता है, सो अधिकतर प्रिय के इस सुखदायक मनोहर रूप के दर्शन के लिये, केवल स्वाति की दो बूँदों के लिये नहीं। चातक का प्रिय लोक-सुखदायी है। उसका मेघ सचमुच बड़ा है और सबके लिये बड़ा है। अतः चातक के प्रेम के भीतर महत्त्व की आनंदमयी स्वीकृति छिपी हुई है। इस महत्त्व के सम्मुख वह जो दीनता प्रकट करता है वह सच्ची दीनता है, हृदय के भीतर अनुभव की हुई दीनता है, प्रेम की दीनता है। किसी के महत्त्व की सच्ची अनुभूति से उत्पन्न दीनता से भिन्न दीनता को लोभ, भय आदि का बदला हुआ रूप समझिए। जिससे बड़ा चातक और किसी

को नहीं समझता, उसे छोड़ यदि और किसी के सामने वह दीनता प्रकट करे तो उसकी दीनता की सचाई में फर्क आ जाय, उसके प्रेम की अनन्यता भंग हो जाय। जो आज एक से कहता है कि "आपसे न माँगें तो और किससे माँगने जायँगे ?" और कल दूसरे से, वह उन दैन्य तक पहुँच ही नहीं सकता जो भक्ति का अंग है। जिस महत्त्व के प्रति सच्ची दीनता प्रकट की जाती है, उसका कुछ आभास लोक को उस दीनता में दिखाई पड़ता है—

तीन लोक तिहुँ काल जस चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥

इस प्रेम के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि यह समान के प्रति नहीं है, अपने से बड़े वा ऊँचे के प्रति है। गोस्वामीजी अपने से बड़े या छोटे के साथ प्रेम करने को समान के साथ प्रेम करने से अच्छा समझते हैं। इससे उनका भीतरी अभिप्राय यह है कि छोटे-बड़े के संबंध में धर्मभाव अधिक है। यदि प्रिय हमसे छोटा है तो उस पर जो हमारा प्रेम होगा वह दया, दाक्षिण्य, अनुकंपा, क्षमा, साहाय्य इत्यादि वृत्तियों को उभारेगा; यदि प्रिय हमसे बड़ा है तो उस पर आलंबित प्रेम, श्रद्धा, सम्मान, दैन्य, नम्रता, संकोच, कृतज्ञता, आज्ञाकारिता इत्यादि को जाग्रत करेगा। इसमें तो कुछ कहना ही नहीं कि हमारे गोस्वामीजी का प्रेम दूसरे प्रकार का था—वह पूज्य-बुद्धि-गर्भित होकर भक्ति के रूप में था। उच्चता की जैसी प्राप्ति उच्च को आत्म-समर्पण करने से हो सकती है, वैसी समान को आत्म-समर्पण करने से नहीं। यह तो पहले ही दिखाया जा चुका है कि शील बाबाजी द्वारा निरूपित भक्ति के आलंबन के स्वरूप के—आभ्यंतर स्वरूप के सही—अंतर्गत है।

भक्ति और शील की परस्पर स्थिति ठीक उसी प्रकार बिंब-प्रतिबिंब भाव से है जिस प्रकार आश्रय और आलंबन की।) और आगे चलिए तो आश्रय और आलंबन की परस्पर स्थिति भी ठीक वही मिलती है जो ज्ञाता और ज्ञेय की है। हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि जो ज्ञान-क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है, वही भाव-क्षेत्र में आश्रय और आलंबन है। ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भाव की उसी चरम सीमा पर जाकर आश्रय और आलंवन भी एक हो जाते हैं। शील और भक्ति का अभेद देखने का इतना विवेचन बहुत है।

दांपत्य-प्रेम का दृश्य भी गोस्वामीजी ने बहुत ही सुंदर दिखाया है—पर बड़ी ही मर्यादा के साथ। नायिका भेदवाले कवियों का सा या कृष्ण की रासलीला के रसिकों का सा लोक मर्य्यादा का उल्लंघन उसमें कहीं नहीं है। सीताराम के परम पुनीत प्रणय की जो प्रतिष्ठा उन्होंने मिथिला में की, उसकी परिपक्वता जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के बीच पति-पत्नी के संबंध की उच्चता और रमणीयता संघटित करती दिखाई देती है। अभिषेक के राम को वन जाने की आज्ञा मिलती है। आनंदोत्सव का सारा दृश्य करुण दृश्य में परिणत हो जाता है। राम वन जाने को तैयार हैं और वन के क्लेश बताते हुए सीता को घर रहने के लिये कहते हैं। इस पर सीता कहती हैं—

वन-दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय-विषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु-वियोग-लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तांति बयारि न मोहीं॥

दुःख की परिस्थिति में सुख की इस कल्पना के भीतर हम जीवन-यात्रा में श्रांत पथिक के लिये प्रेम की शीतल सुखद छाया

देखते हैं। यह प्रेम-मार्ग निराला नहीं है। यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग नहीं करता, उसमें बिखरे हुए काँटों पर फूल बिछाता है।

थोड़ी दूर साथ चलकर उन्होंने जान लिया होगा कि उनका मार्ग 'सुमनमय' ही है। प्रेम के प्रभाव से जंगल में भी मंगल था। सीता को तो सहस्रों अयोध्याओं का सुख वहाँ मिल रहा था—

नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥
सिय-मन राम-चरन-अनुरागा। अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा॥

अयोध्या से अधिक सुख का रहस्य क्या है? प्रिय के साथ सहयोग के अधिक अवसर। अयोध्या में सहयोग और सेवा के इतने अवसर कहाँ मिल सकते थे? जीवन-यात्रा की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति वन में अपने हाथों से करनी पड़ती थी। कुटी छाना, स्थान स्वच्छ करना, जल भर लाना, ईंधन और कंद-मूल इकट्ठा करना इत्यादि वहाँ के नित्य-जीवन के अंग थे। ऐसे प्राकृतिक जीवन में प्रेम का जो विकास हो सकता है, वह कृत्रिम जीवन में दुर्लभ है। दूसरा कारण इस सुख का था हृदय का प्रकृति के अनेक रूपों के साथ सामंजस्य, जिसके प्रभाव से 'कुरंग-विहंग' अपने परिवार के भीतर जान पड़ते थे। उस जगज्जननी जानकी का हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा जिसे एक स्थान पर लगाए हुए फूल-पौदों को छोड़कर अन्य स्थान पर जाते हुए भी दुःख होता था।

सीताजी द्वारा शृङ्गार के संचारी भाव 'व्रीड़ा' की व्यंजना के लिये कैसा उपयुक्त अवसर चुना गया है! वन के मार्ग में ग्रामीण स्त्रियाँ राम की ओर लक्ष्य करके सीता से पूछती हैं कि ये तुम्हारे कौन हैं। इस पर सीता—

तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच सकुचति बर-बरनी॥

'बिलोकति धरनी' कितनी स्वाभाविक मुद्रा है ! 'दुहुँ सँकोच' द्वारा कवि ने सीता के हृदय की कोमलता और अभिमान-शून्यता भी कैसे ढंग से व्यंजित कर दी है। एक तो राम को खुले शब्दों में अपना पति कहने में संकोच; दूसरा संकोच यह समझकर कि यदि इन भोली-भाली स्त्रियों को कोई उत्तर न दिया जायगा तो ये मन में दुःखी होंगी और मुझे अभिमानिनी समझेंगी।

इसके आगे सीताजी में शृङ्गारी चेष्टाओं का विधान भी अत्यन्त निपुणता और भावुकता के साथ गोस्वामीजी ने किया है-

बहुरि-बदन-बिधु अंचल ढाँकी। पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

यदि आम रास्ते पर राम के साथ बातचीत करने में ये चेष्टाएँ दिखाई जातीं तो कुल-वधू की मर्य्यादा का भंग होता और कोई विशेष निपुणता की बात न होती; रूढ़ि का अनुसरण मात्र होता। पर बीच में उन स्त्रियों को डाल देने से एक परदा भी खड़ा हो गया और अधिक स्वाभाविकता भी आ गई। सीता में ये चेष्टाएँ अपने साथ राम के संबंध की भावना द्वारा उत्पन्न दिखाई पड़ती हैं। यदि राम सीता के परस्पर व्यवहार में ये चेष्टाएँ दिखाई जातीं तो 'संभोग शृङ्गार' का खुला वर्णन हो जाता, जो गोस्वामीजी ने कहीं नहीं किया है।

अब प्रश्न यह है कि ये चेष्टाएँ 'अनुभाव' होंगी या विभावांतर्गत 'हाव' ? हिंदी के लक्षण-ग्रन्थों में 'हाव' प्रायः 'अनुभाव' के अंतर्गत रखे मिलते हैं। पर यह ठीक नहीं है। 'अनुभाव' के अन्तर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएँ आ सकती हैं। 'आश्रय' की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी भाव की व्यञ्जना करना होता है। पर हावों का सन्निवेश किसी भाव की व्यञ्जना कराने के लिये नहीं होता, बल्कि नायिका का मोहक प्रभाव बढ़ाने के लिये,

अर्थात् उसकी रमणीयता की वृद्धि के लिये होता है। जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षकता का वर्णन या विधान किया जाता है, वह 'आलम्बन' होता है। अतः 'हाव' नामक चेष्टाएँ आलम्बन-गत ही मानी जायँगी और आलम्बनगत होने के कारण उनका स्थान 'विभाव' के अन्तर्गत ही ठहरता है।

अब विचार करना चाहिए कि सीताजी की उक्त चेष्टाएँ 'अनुभाव' होंगी या 'हाव'। लक्षण के अनुसार 'संभोगेच्छा-प्रकाशक भ्रूनेत्रादि विकार' ही 'हाव' कहलाते हैं। पर सीताजी के विकार इस प्रकार के नहीं हैं। वे विकार राम के साथ अपने सम्बन्ध की भावना से उत्पन्न हैं और उनके प्रति प्रेम की व्यञ्जना करते हैं। इस प्रकार आश्रय की चेष्टाएँ होने के कारण वे विकार अनुभाव ही होंगे।

सीता-हरण होने पर इस प्रेम को हम एक ऐसे मनोहर क्षेत्र का द्वार खोलते हुए पाते हैं जिसमें बल और पराक्रम अपनी परमावस्था को पहुँच कर अनीति और अत्याचार ध्वंस कर देता है। वन में सीता का वियोग चारपाई पर करवटें बदलवाने-वाला प्रेम नहीं है—चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपाल के लिये गोपियों को बैठे-बैठे रुलानेवाला वियोग नहीं है, झाड़ियों में थोड़ी देर के लिये छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आँखों से आँसुओं की नदी बहानेवाला वियोग नहीं है—यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमानेवाला, सेना एकत्र करानेवाला, पृथ्वी का भार उतारनेवाला वियोग है। इस वियोग की गम्भीरता के सामने सूरदास द्वारा अङ्कित वियोग अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी बालक्रीड़ा-सा लगता है।

शोक का चित्रण भी गोस्वामीजी ने अत्यन्त हृदय-द्रावक पद्धति से किया है। शोक के स्थल तुलसी-वर्णित रामचरित में

दो हैं—एक तो अयोध्या में राम-वनगमन का प्रसङ्ग और दूसरा लङ्का में लक्ष्मण को शक्ति लगने का। राम के वन जाने पर जो दुःख फैला, वह शोक ही माना जायगा; वह प्रिय का प्रवास-जन्य दुःख मात्र नहीं है। अभिषेक के समय वनवास बड़े दुःख की बात है—

राम चलत अति भयउ विषादू। सुनि न जाइ पुर आरत-नादू॥

यह विषाद (जो शोक का सञ्चारी है) और यह आर्त्तना शोक-सूचक है। प्रिय के दुःख या पीड़ा पर जो दुःख हो, व शोक है, प्रिय के कुछ दिनों के लिये वियुक्त होने मात्र का ज दुःख हो, वह विरह है। अतः राम के इस दुःखमय प्रवास पर ज दुःख लोगों को हुआ वह शोक और वियोग दोनों है।

दशरथ के मरण पर यह शोक अपनी पूर्ण दशा पर पहुँ जाता है। उस समय की अयोध्या की दशा के वर्णन में पाठकों क करुणा की ऐसी धारा दिखाई पड़ती है, जिसमें पुरवासियों साथ वे भी मग्न हो जाते हैं—

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥
सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब व्याकुल भागी॥
करि विलाप सब रोवहिं रानी। महाबिपति किमि जाइ बखानी॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥

गोस्वामीजी द्वारा चित्रित राजकुल का यह शोक ऐसा शो है जिसके भागी केवल पुरवासी ही नहीं, मनुष्य मात्र हो सक हैं; क्योंकि यह ऐसे आलम्बन के प्रति है जिसके थोड़े से दुः को भी देख मनुष्य कहलानेवाले मात्र न सही तो मनुष्यता रखने वाले सब करुणार्द्र हो सकते हैं।

दूसरा करुण दृश्य लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम क विलाप है। इस विलाप के भीतर शोक की व्यञ्जना अत्यन्त

स्वाभाविक रीति से की गई है। उसके प्रवाह में एक क्षण केलिये सारे नियम-व्रत, सारी दृढ़ता बही जाती सी दिखाई देती है—

जौ जनतेउँ बन बन्धु-बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥

भाव-दशा का तात्पर्य न समझनेवाले, नीति के नाम पर पाखंड धारण करनेवाले, इसे चरित्र-ग्लानि समझेंगे या कहेंगे। पर ऐसे प्रिय बन्धु का शोक, जिसने एक क्षण के लिये भी विपत्ति में साथ न छोड़ा, यदि एक क्षण के लिये सब बातों का विचार छुड़ा देनेवाला न होता तो राम के हृदय की वह कोमलता कहाँ दिखाई पड़ती जो भक्तों की आशा का अवलंबन है? यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमों से परे है। नियमों से निराश होकर, 'कर्मवाद' की कठोरता से घबराकर, परोक्ष 'ज्ञान' और परोक्ष 'शक्ति' मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोज में लगा और अन्त में भक्तिमार्ग में जाकर उस परोक्ष हृदय को उसने पाया। भक्त लोगों का ईश्वर अविचल नियमों की समष्टि मात्र नहीं है; यह क्षमा, दया, उदारता इत्यादि का अनंत समुद्र है। लोक में जो कुछ क्षमा, दया, उदारता, आदि दिखाई देती है; वह उसी समुद्र का एक विन्दु है।

"आत्मग्लानि" का जैसा पवित्र और सच्चा स्वरूप गोस्वामीजी ने दिखाया है, वैसा शायद ही किसी कवि ने कहीं दिखाया हो। आत्मग्लानि का उदय शुद्ध और सात्त्विक अन्तःकरण में ही हो सकता है; अतः भरत से बढ़कर उपयुक्त आश्रय उसके लिये और कहाँ मिल सकता है? आत्मग्लानि नामक मानसिक शैथिल्य या तो अपनी बुराई का अनुभव आप करने से होता है अथवा किसी बुरे प्रसंग के साथ अपना सम्बन्ध लोक में दिखाई पड़ने से उत्पन्न हीनता का अनुभव करने से। भरतजी

को ग्लानि थी दूसरे प्रकार की, पर बड़ी सच्ची और बड़ी गहरी थी। जिन राम का उन पर इतना गाढ़ा स्नेह था, जिन्हें वे लोकोत्तर श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते आए, उनके विरोधी वे समझे जायँ, यह दुःख उनके लिये असह्य था। इस दुःख के भार से हलके होने के लिये वे छटपटाने लगे, इस घोर आत्मग्लानि को वे हृदय में न रख सके—

को त्रिभुवन मोहिं सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर, बन रघुबर-केतू। मैं केवल सब अनरथ-हेतू॥
धिग मोंहिं भयउँ बेनु-बन आगी। दुसह—दाह—दुख-दूषन-भागी॥

वे रह रहकर सोचते हैं कि मैं लाख अपनी सफाई दूँ, पर लोक की दृष्टि में निष्कलंक नहीं दिखाई पड़ सकता—

जो पै हौं मातु मते महँ ह्वैहौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं?

कैकेयी को सामने पाकर इस ग्लानि के साथ अमर्ष का संयोग हो जाता है। उसकी पवित्रता के सामने माता के प्रति यह अवज्ञा कैसी मनोहर दिखाई पड़ती है—

जो पै कुरुचि रही अति तोहीं। जनमत काहे न मारेसि मोहीं॥
ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो, री?
"राम जाहु कानन" कठोर तेरे कैसे धौं हृदय रह्यो री?

एक बार तो संसार की ओर देखकर भरत जी अयश छूटने से निराश होते हैं; पर फिर उन्हें आशा बँधती है और वे कैकेयी से कहते हैं कि ईश मेरा तो अयश हरेंगे, मैं तो मुँह दिखाने लायक हो जाऊँगा; पर तू अपने दिन कैसे काटेगी? वे समझते हैं कि राम के आते ही मेरा अयश दूर हो जायगा। उनको विश्वास है कि सारा संसार मुझे दोषी माने, पर सुशीलता की मूर्ति राम मुझे दोषी नहीं मान सकते।

परिहरि राम-सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं॥

राम की सुशीलता पर भरत को इतना अविचल विश्वास है! वह सुशीलता धन्य है जिस पर इतना विश्वास टिक सके; और वह विश्वास धन्य है जो सुशीलता पर इस अविचल भाव से जमा रहे! भरत की आशा का एकमात्र आधार यही विश्वास है। कौशल्या के सामने जिन वाक्यों द्वारा वे अपनी सफाई देते हैं, उनके एक-एक शब्द से अंतःकरण की स्वच्छता झलकती है। उनकी शपथ उनकी अंतर्वेदना की व्यंजना है—

जे अघ मातु, पिता, सुत मारे। गाय-गोठ महिसुर-पुर जारे॥
जे अघ तिय-बालक-बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम-वचन-मन-भव कवि कहहीं॥
ते पातक मोहिं होहु विधाता। जौं एहु होइ मोर मत माता॥

इस सफाई के सामने हजारों वकीलों की सफाई कुछ नहीं है, इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं हैं। यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले।

हास्यरस का एक अच्छा छींटा नारद-मोह के प्रसंग में मिलता है। नारदजी बन्दर का मुँह लेकर स्वयंवर की सभा में एक राजकन्या को मोहित करने बैठे हैं—

काहु न लखा सो चरित बिसेखा। सो सरूप नृप-कन्या देखा॥
मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं॥

गोस्वामीजी का यह हास भी मर्य्यादा के साथ है, 'स्मित' हास है, बड़े लोगों का हास है। उस पर भी उद्देश्यगर्भित है, निरा हास ही हास नहीं है। यह मोह और अहङ्कार छुड़ाने का

एक साधन है। इसके आलंबन का स्वरूप भी विदूषकों का-सा कृत्रिम नहीं है।

हास के अतिरिक्त बालविनोद की सामग्री देखनी हो, तो सुन्दर काण्ड में एक लम्बी पूँछ के बन्दर को पूँछ में लुक बाँधकर नाचते हुए और राक्षसों के लड़कों को ताली बजा-बजाकर हुए देखिए। थोड़ी देर वहीं ठहरने पर ऐसा भयानक और वी काण्ड देखने को मिलेगा, जो भुलाए न भूलेगा। कविता में लंकादहन का बड़ा ही विस्तृत और पूर्ण चित्रण है।

क़वायद की पूरी पावंदी के साथ वहुत थोड़े में रौद्ररस उदाहरण देखना हो, तो यह देखिए—

माषे लखन कुटिल भईं भौहैं। रद-पट फरकत नयन रिसौहैं॥
रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥

इसमें अनुभाव भी है, अमर्ष संचारी भी है। संभव है, लोगों को "रिसौहैं" शब्द के कारण 'स्वशब्दवाच्यत्व' दिखाई पड़े; पर अनुभव आदि द्वारा पूर्ण व्यंजना हो ज पर विशेषण रूप में 'भाव' का नाम आ जाना दोष नहीं क जा सकता।

युद्धवीर के उदाहरणों से तो सारा लंकाकाण्ड भरा पड़ा है 'उत्साह' नामक भाव की भी व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष को पहुँ हुई है और युद्ध के दृश्य का चित्रण भी बड़ा ही उग्र और प्रच है। वीररस का वर्णन-कौशल उन्होंने तीन शैलियों के भीत दिखाया है—प्राचीन राजपूत-काल के चारणों की छप्पर वाली ओजस्विनी शैली के भीतर; इधर के फुटकरिए कवियों क दंडकवाली शैली के भीतर, और अपनी निज की गीतिकावाल शैली के भीतर।

धनुष चढ़ाने के लिये राम और लक्ष्मण का उत्साह औ

ानुर्भङ्ग की प्रचण्डता का वर्णन भी अत्यन्त वीरोल्लासपूर्ण है। ानक के वचन पर उत्तेजित होकर लक्ष्मण कहते हैं—

का बापुरो पिनाकु ? मेलि गुन मन्दर-मेरु नवावौं।
लै धावौं, भञ्जौं मृनाल ज्यौं तौ प्रभु अनुज कहावौं॥

धनुर्भङ्ग के इस वर्णन में प्रश्न यह उठता है कि इसमें दर्शित 'उत्साह' का आलम्बन क्या है। प्रचलित साहित्य-ग्रन्थों ां देखिए तो युद्धवीर का आलम्बन विजेतव्य ही मिलेगा। यह वेजेतव्य शत्रु या प्रतिपक्षी ही हुआ करता है। अतः यहाँ वेजेतव्य धनुष ही हो सकता है। पर पृथ्वी पर पड़ा हुआ जड़ ानुष मनुष्य के हृदय में उठाने या तोड़ने का उत्साह किस तरह ाग्रत करेगा, यह समझते नहीं बनता है। वह तो पड़ा पड़ा ालकार नहीं रहा है। यदि किसी मनुष्य में इतना साहस और ल है कि वह बड़ी चट्टानों को उठा सकता है, तो पहाड़ पर ाकर उसकी क्या दशा होगी ? अतः हमारी समझ में उत्साह ा आलम्बन कोई विकट या दुष्कर्म 'कर्म' ही होता है।

अब अद्भुत रस का एक उदाहरण देकर यह प्रसङ्ग समाप्त केया जाता है। हनुमानजी पहाड़ हाथ में लिए आकाश-मार्ग से अपूर्व वेग के साथ उड़े जा रहे हैं—

लीन्हो उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलम्ब न लायो।
मारुत नन्दन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो॥

इस पद्य के भीतर "मारुत को, मन को, खगराज को"— इस वाक्यांश में कुछ 'दुष्कर्मत्व प्रतीत होता है। मन को सब के पीछे होना चाहिए; मन का वेग जब कह चुके, तब खगराज का वेग उसके सामने कुछ नहीं है। पर समग्र वर्णन से जो चित्र सामने खड़ा होता है, उसके अद्भुत होने में कोई सन्देह नहीं। गगनमण्डल के बीच पहाड़ की एक लीक-सी बँध जाना कोई

साधारण व्यापार नहीं है। इस अद्भुतता की योजना भी एक स्वभावसिद्ध व्यापार के आधार पर हुई है और प्रकृति का निरीक्षण सूचित करती है। यह सूचित करती है कि अत्यन्त वेग से गमन करती हुई वस्तु की एक लकीर सी बन जाया करती है, इस बात पर कवि की दृष्टि गई है। जिसकी दृष्टि ऐसी-ऐसी बातों पर न जाती हो, वह कवि कैसा ? प्रकृति के नाना रूपों को देखने के लिये कवि की आँखें खुली रहनी चाहिए, उसका मृदु सङ्गीत सुनने के लिये उसके कान खुले रहने चाहिए, और सबका प्रभाव ग्रहण करने के लिये उसका हृदय खुला रहना चाहिए। अद्भुत रस के इस आलम्बन द्वारा गोस्वामीजी की वह स्वाभाविक विश्व-व्यापार-ग्राहिणी सहृदयता लक्षित होती है, जो हिन्दी के और किसी कवि में नहीं। इस स्वभाव-सिद्ध अद्भुत व्यापार के सामने "कमल पर कदली, कदली पर कुण्ड, शङ्ख पर चन्द्रमा" आदि कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज़ हैं ? लड़कों के खेल हैं। बालकों या बाल-रुचिवालों का मनोरञ्जन उनसे होता हो, तो हो सकता है।

गोस्वामीजी ने अपनी इस परिष्कृत और गम्भीर रुचि का परिचय अलङ्कारों की योजना में बराबर दिया है। लङ्कादहन के प्रसङ्ग में जहाँ हनुमान्जी अपनी जलती हुई लम्बी पूँछ इधर से उधर घुमाते हैं, वहाँ भी अपनी 'उत्प्रेक्षा' और 'सन्देह' को वे इसी स्वभावसिद्ध व्यापार पर टिकाते हैं—

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौ,
लङ्क लिलिवे को काल रसना पसारी है।
कैधों ब्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर तरवारि-सी उघारी है॥

ध्यान से देखिए तो कई एक व्यापार, जो देखने में केवल

अलौकिकत्व-विधायक प्रतीत होते हैं। हेतूत्प्रेक्षा के व्यंग्य से अपना प्रकृत स्वरूप खोल देंगे।

जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया। तहँ तहँ मेघ करहिं नभ छाया॥

(जिस समय मेघ खण्ड आकाश में बिखरे रहते हैं उस समय पथिक के मार्ग में कभी धूप पड़ती है कभी छाया। इस छाया पड़ने को देखकर किसी अवसर पर यदि कवि किसी साधारण पुरुष को भी कह दे कि "मेघ भी आपके ऊपर छाया करते चलते हैं" तो उसका यह कहना अस्वाभाविक न लगेगा।) इस कथन द्वारा जिस प्रताप आदि की व्यञ्जना इष्ट होगी, वह उत्प्रेक्षा का हेतु हो जायगा। प्राचीन कवियों में इस प्रकार की सुन्दर स्वाभाविक उक्तियाँ अकसर मिलती हैं जिसमें से किसी किसी को लेकर और उन पर एक साथ कई प्रौढ़ोक्तियाँ लादकर पिछले खेवे के कवियों ने एक भद्दी इमारत खड़ी की है। फल इसका यह हुआ है कि उनमें अतिशयोक्ति ही अतिशयोक्ति रह गई है; जो कुछ स्वाभाविकता थी, वह जान (अपनी कहिए या उन पुरानी उक्तियों की कहिए) लेकर भागी है। उदाहरण के लिये अभिज्ञान शाकुन्तल में भौंरा शकुन्तला का पीछा किए हुए है और बार बार उसके मुँह की ओर जाता है—

"सलिल सेयसम्भमुग्गदो, णोमालिअं उज्झिअ वअणं में महुअरो अहिवट्टइ"—

बहुत लोगों ने देखा होगा कि भौंरे आदमी के पीछे अकसर लग जाते हैं, कान और मुँह के पास मँडराया करते हैं और हटाने से जल्दी हटते नहीं। इसी बात पर स्त्रियों में यह प्रवाद प्रचलित है कि जब कोई परदेश में होता है, तब उसका सन्देशा कहने के लिये भौंरे आकर कान के पास मँडराया करते हैं अतः इस प्रकार की पुरानी उक्तियों में सौंदर्य है, वह हमें

अतिशयोक्ति में न दिखाई देकर स्वभाव सिद्ध वस्तु द्वारा व्यंग्य हेतूत्प्रेक्षा में दिखाई पड़ता है। जैसे भौंरा जो बार बार मुँह के पास जाता है, वह मानो मुख को कमल समझने के कारण।

छोटे छोटे सञ्चारी भावों की स्वतन्त्र व्यञ्जना भी गोस्वामीजी ने जिस मार्मिकता से की है, उससे मानवी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट होता है। उन्होंने ऐसे ऐसे भावों का चित्रण किया है जिसकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहीं गया है। सञ्चारियों के भीतर वे गिनाए तो गए नहीं हैं फिर ध्यान जाता कैसे? सीता के सम्बन्ध में राम लोक-ध्वनि चरों के द्वारा सुनते हैं—

चरचा चरनि सो चरची जानमनि रघुराइ।
दूत-मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आइ॥

मर्य्यादास्तम्भ राम लोकमत पर सीता को वन में भेज देते हैं। लक्ष्मण उन्हें वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आँखों में आँसू भरे लौट रहे हैं। ऐसे अवसर पर सीता ऐसी गम्भीर हृदया देवी का यह 'उदासीन भाव' प्रकट करना कितना स्वाभाविक है—

तौ लौं बलि आपुही कीबी बिनय समुझि सुधारि।
जौ लौं हौं सिखि लेउँ बन ऋषि-रीति बिस दिन चारि॥
तापसी कहि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि।
बहुरि तिहि बिधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि॥
लषन लाल कृपाल! निपटहिं डारिबी न बिसारि।
पालबी सब तापसनि ज्यों राजधर्म बिचारि॥

काव्य के भाव विधान में जिस 'उदासीनता' का सन्निवेश होगा, वह खेद व्यञ्जक ही होगा—यथार्थ में 'उदासीनता' न होगी। उसे विषाद, क्षोभ आदि से उत्पन्न क्षणिक मानसिक शैथिल्य समझिए। कैकेयी को समझाते समय मन्थरा के मुख से भी इस उदासीनता की व्यञ्जना गोस्वामीजी ने बड़ी

मार्मिकता से कराई है। राम के अभिषेक पर दुख प्रकट करने के कारण जब मंथरा को कैकेयी बुरा-भला कहती है, तब वह कहती है—

हमहुँ-कहब अब ठकुर सोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन-राती।
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥

हिन्दी-कवियों में तुलसी ऐसे भावुक के सिवा इस गूढ़ भाव तक और किसकी पहुँच हो सकती है? और कौन ऐसे उपयुक्त पात्र में ऐसे उपयुक्त अवसर पर उसका विधान कर सकता है? इस "उदासीनता" के भाव का आविष्कार उन्हीं का काम था। सूरदास ने इसका कुछ आभास मात्र यशोदा के उस सँदेसे में दिया है जो उन्होंने कृष्ण के मथुरा चले जाने पर देवकी के पास भेजा था—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥

"आश्चर्य्य को लेकर कविजन 'अद्भुतरस' का विधान करते हैं जिसमें कुतूहलवर्द्धक बातें हुआ करती हैं। पर इस आश्चर्य्य से मिलता-जुलता एक और हलका भाव होता है जिसे, कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण; हम 'चकपकाहट' कह सकते हैं और आश्चर्य्य के संचारी के रूप में रख सकते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानियों ने दोनों (Wonder और Surprise) में भेद किया है। आश्चर्य्य किसी विलक्षण बात पर होता है—ऐसी बात पर होता है जो साधारणतः नहीं हुआ करती। 'चकपकाहट' किसी ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन में न रही हो, और जो एकाएक हो जाय। जैसे, किसी दूर देश में रहनेवाले मित्र को सहसा अपने सामने

देखकर हम 'चकपका' उठते हैं। राम का सेतु बाँधना सुन रावण चकपका कर कहता है—

बाँधे वननिधि ? नीरनिधि ? जलधि ? सिंधु ? बारीस ?
सत्य, तोयनिधि ? कंपति ? उदधि ? पयोधि ? नदीस ?

यह ऐसा ही है जैसा सहसा किसी का मरना सुनकर चकपकाकर पूछना—"अरे कौन ? रामप्रसाद के बाप ? माताप्रसाद के लड़के ? शिवप्रसाद के भाई ? अमुक स्टेट के मैनेजर ?" इस भाव का प्रत्यक्षीकरण भी यह सूचित करता है कि गोस्वामीजी सब भावों को अपने अन्तःकरण में देखनेवाले थे, केवल लक्षण ग्रन्थों में देखकर उनका सन्निवेश करनेवाले नहीं।

दूसरों का उपहास करते तो आपने बहुत लोगों को देखा होगा, पर कभी आपने मनुष्य की उस अवस्था पर भी ध्यान दिया है जब वह पश्चात्ताप और ग्लानिवश अपना उपहास आप करता है ? गोस्वामीजी ने उस पर भी ध्यान दिया है। उनकी अन्तर्दृष्टि के सामने यह अवस्था भी प्रत्यक्ष हुई है। सोने के हिरन के पीछे अपनी सोने की सीता को खोकर राम वन-वन विलाप करते फिरते हैं; मृग उन्हें देखकर भागते हैं; और फिर जैसा कि उनका स्वभाव होता है, थोड़ी दूर पर जाकर खड़े हो जाते हैं। इस पर राम कहते हैं—

हमहि देखि मृग-निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम आनन्द करहु मृगजाए। कञ्चनमृग खोजन ये आए॥

कैसी क्षोभ-पूर्ण आत्मनिन्दा है !

यहाँ एक और बात ध्यान देने की है। कवि ने मृगों के ही भय का क्यों नाम लिया ? मृगियों को भय क्यों नहीं था ? बात यह है कि आखेट की यह मर्य्यादा चली आती है, मादा के ऊपर अस्त्र न चलाया जाय। शिकार खेलनेवालों में यह बात

प्रसिद्ध है। यहाँ गोस्वामीजी का लोकव्यवहार-परिचय प्रकट होता है।

देखिए 'श्रम' की व्यञ्जना किस कोमलता के साथ गोस्वामीजी करते हैं। सीता राम-लक्ष्मण के साथ पैदल वन की ओर चली हैं कि—

झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै।
फिरि बूझति हैं "चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ?"

× × ×

तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानिके बैठि बिलम्ब लौं कण्टक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥

कुलवधू के 'श्रम' की यह व्यञ्जना कैसी मनोहर है! यह 'श्रम' स्वतन्त्र है, किसी और भाव का सञ्चारी होकर नहीं आया है।

गोस्वामीजी को मनुष्य की अन्तःप्रकृति की जितनी परख थी उतनी हिन्दी के और किसी कवि का नहीं। कैसे अवसर पर मनुष्य के हृदय में स्वभावतः कैसे भाव उठते हैं, इसकी वे बहुत सटीक कल्पना करते थे। राम के अयोध्या लौटने पर जब सुग्रीव और विभीषण ने राम और भरत का मिलना देखा तब उनके चित्त में क्या आया होगा, यह देखिए—

सधन चोर मन मुदित मन, धनी गही ज्यों फेंट।
त्यों सुग्रीव बिभीषनहिं, भई भरत की भेंट॥

रास्ते भर तो वे बहुत ही प्रसन्न आए होंगे और राम के साथ रहने के कारण अपने को गौरवशाली—शायद साधु और सज्जन भी—समझते रहे होंगे। पर यह महत्त्व उनका निज का अर्जित नहीं था, केवल राम की कृपा से मिला हुआ था। वे जो उसे अपना अर्जित समझते आ रहे थे, यह उनका भ्रम था।

उनका यह भ्रम राम और भरत का मिलना देखकर दूर हो गया। वे ग्लानि से गड़ गए। उनके मन में आया कि एक भाई भरत हैं और एक हम लोग हैं जिन्होंने अपने भाइयों के साथ ऐसा व्यवहार किया।

बस, दो बातें और कहनी हैं। कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिये व्यापार-शोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करनेवाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है। यह चुनाव दो प्रकार से होता है। कहीं तो (१) चुना हुआ व्यापार उपस्थित प्रसङ्ग के भीतर ही होता है या हो सकता है, अर्थात् उस व्यापार और प्रसङ्ग का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होता है और यह व्यापार उपलक्षण मात्र होता है; और कहीं (२) चुना हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापार से सादृश्य रखता है; जैसे, अन्योक्ति में। गोस्वामीजी ने दोनों प्रकार के चुनाव में अपनी स्वाभाविक सहृदयता दिखाई है।

(१) प्रथम पद्धति का अवलम्बन ऐसी स्थिति को अङ्कित करने में होता है जिसके अन्तर्गत बहुत से व्यापार हो सकते हैं और सब व्यापारों का वाच्य एक सामान्य शब्द हुआ करता है, जैसे अत्याचार, दैन्य, दुःख, सुख इत्यादि। अत्याचार शब्द के अन्तर्गत डाँटने-डपटने से लेकर मारना-पीटना, जलाना, स्त्री-बालकों की हत्या करना, न जाने कितने व्यापार समझे जाते हैं। इसी प्रकार दीन दशा के भीतर खाने-पहनने की कमी से लेकर द्वार-द्वार फिरना, दाँत निकालकर माँगना, किसी के दरवाजे पर अड़कर बैठना और हटाने से भी न हटना ये सब

गोचर दृश्य आते हैं। इन दृश्यों में जो सबसे अधिक मर्मस्पर्शी होता है, भावुक कवि उसी को सामने रखकर, उसी को सबका उपलक्षण बनाकर, स्थिति को हृदयङ्गम करा देता है। गोस्वामीजी ने अपने दैन्य भाव का चित्रण स्थान-स्थान पर इसी पद्धति से किया है। कुछ उदाहरण लीजिए—

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
हा हा करि दीनता कही, द्वार द्वार बार बार, परी न छार मुँह बायो।
महिमा मान प्रिय प्रान तें तजि, खोलि खलन आगे खिनु खिनु पेट खलायो॥

इसका अर्थ यह नहीं है कि तुलसीदासजी सचमुच द्वार-द्वार पेट खलाते और डाँट-फटकार सुनते फिरा करते थे।

सारी विनयपत्रिका का विषय यही है—राम की बड़ाई और तुलसी की छोटाई है। दैन्यभाव जिस उत्कर्ष को गोस्वामीजी में पहुँचा है, उस उत्कर्ष को और किसी भक्त कवि में नहीं। इस भाव-रहस्य से अनभिज्ञ और इस उपलक्षण-पद्धति को न समझने-वाले ऊपर के पदों को देख यदि कहें कि तुलसीदासजी बड़े भारी मङ्गन थे, हटाने से जल्दी हटते नहीं थे और खुशामदी भी बड़े भारी थे, तो उनका प्रतिवाद करना समय नष्ट करना ही है। खेद इस बात पर अवश्य होता है कि 'स्वतन्त्र आलोचना' का ऐसा स्थूल और भद्दा अर्थ समझनेवाले भी हमारे बीच वर्त्तमान हैं। एक स्थान पर गोस्वामीजी कहते हैं—

खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई।

इस पर यदि कोई कह दे कि तुलसीदासजी बड़े भारी बेहया थे, तो उसकी क्या दवा है ?

तुलसीदासजी को जब स्वामी के प्रति अपने प्रेम की अनन्यता की इस प्रकार प्रतीति हो जाती है कि "जानत जहान मन

मेरे हू गुमान बड़ो, मान्यों मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं"
तब प्रेमाधिक्य से वे कुछ मुँह-लगे हो जाते हैं और कभी-कभी ऐसी बातें भी कह देते हैं—

हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मो पै परिहास एते॥

पर ऐसी गुस्ताखी कभी नहीं करते कि "आपने करम भव-निधि पार करौं जौ तो हम करतार, करतार तुम काहे के ?"

देखिए, संसार की अशान्ति का चित्र कैसा मर्मस्पर्शी और प्राकृतिक जीवन-व्यापार उपलक्षण के रूप में चुनकर वे अङ्कित करते हैं—

ड़ासत ही गई बीत निसा सब कबहुँ न, नाथ ! नींद भरि सोयो।

(२) प्रस्तुत व्यापार के स्थान पर उसी के सदृश अप्रस्तुत व्यापार चुनने में भी गोस्वामीजी ने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक दृश्यों की परख का पूर्ण परिचय दिया है। प्रेम भाव का उत्कर्ष दिखाने के लिये उन्होंने चातक और मीन को पकड़ा है। दोहा-वली के भीतर चातक की अन्योक्तियाँ प्रेमी भक्तों के हृदय का सर्वस्व हैं। यही चातकता और मीनता वे जीवन भर चाहते रहे—"करुणानिधान ! बरदान तुलसी चहत सीतापति-भक्ति सुरसरि-नीरमीनता।" अन्योक्ति आदि के लिये भी वे तत्काल हृदय में चुभनेवाला दृश्य लाकर खड़ा कर देते हैं। इससे प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में जो भाव उत्पन्न करना इष्ट होता है, वह भाव थोड़ी देर के लिये अवश्य उत्पन्न होता है। प्रासादों में सुख से रहनेवाली सीता वन में कैसे रह सकेंगी—

नव-रसाल-बन बिहरन-सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥

———

अन्तर्नाद—

लेखक—श्री वियोगी हरि

श्री रायकृष्णदास की 'साधना' की भाँति वियोगी जी का 'अन्तर्नाद' भावपूर्ण तथा साङ्केतिक तथ्य-कथन का एक सुन्दर संग्रह है। इन छोटे टुकड़ों में हृदय और अभिव्यञ्जना—दोनों की मिठास सर्वत्र मिलती है। आध्यात्मिक आनन्दानुभूति के विभिन्न आलम्बनों का योग लेखक ने लिया है। इन रचनाओं में सङ्केत और प्रच्छन्न-कथन की प्रणाली बड़ी निर्मल दिखाई पड़ती है।

सातवीं तरङ्ग—

प्रतीक्षा—

कब की खड़ी हूँ, प्रियतम ! पुकारते-पुकारते थक गई। जीभ में छाले पड़ गए। पर तुम न आए!

इस विजन वन में अकेली मैं ही हूँ चारों ओर अँधेरा-ही अँधेरा छा रहा है। तरङ्गिणी का कलकल-रव भी मन्द पड़ता जाता है। जान पड़ता है हवा भी अपनी अठखेलियाँ बन्द कर सोने जा रही है सामने के काले भयावने गिरि-शिखरों की ओर तो आँख खोलकर देखा भी नहीं जाता। बड़ी सनसनाहट है। पेड़ों पर बसेरा लेनेवाली चिड़ियों के परों की फड़फड़ाहट ही रुक-रुककर इस घोर सन्नाटे को चीरती है। इसी से थोड़ा-बहुत धीरज बँधा है। नाथ! अञ्चल से ढँका हुआ यह निस्नेह दीपक कबतक टिमटिमायगा?

पैर काँप रहे हैं। हृदय धक-धक कर रहा है। पलकें भी भारी होती जाती हैं। शरीर पसीज उठा है। गला रुँध आया है। बड़ी घबराहट मालूम होती है। क्या करूँ, क्या न करूँ? न खड़ा ही रह जाता है, न लौटते ही बनता है। लौटूँ भी, तो कहाँ, किस ओर? अब न मेरा कहीं घर है, न द्वार। न सखी है ,न सहेली। न सजन है, न परिजन। न कुल है, न कानि। फिर किधर जाऊँ, कहाँ रहूँ? पूरब- पच्छिम का भी तो ज्ञान नहीं। नाथ! तुम्हारे मन में आखिर है क्या? यह देखो, दीपक भी बुझा चाहता है।

क्या यह शिला, जिस पर मैं खड़ी तुम्हारी बाट जोह रही हूँ, मोम की तो नहीं है? यदि नहीं, तो पिघलती क्यों जाती है?

तारे क्यों रो रहे हैं ? कौन कहता है कि पत्तियों पर ओस की बूंदें झिलमिला रही हैं। यह तो इन्हीं तड़पते तारों के आँसू हैं। काली साड़ी पहने यह अँधेरी रात मुझ निराशा में डूबी अभागिनी का दुःख बटाने आई है। देखूँ, बेचारी कब तक साथ देती है। स्नेहमयी प्रकृति का हृदय सचमुच ही बड़ा कोमल है। यह इतनी दया न दिखाती तो मैं किसके आगे अपना रोना रोती ? पर तुम्हें तनिक भी दया न आई, कठोर हृदय !

यह प्रतीक्षा है, या परीक्षा ? प्रतीक्षा ही है, परीक्षा किस बात की होगी ? तुम अनन्त, तुम्हारी प्रतीक्षा भी अनन्त ! ठीक है न ? कुछ तो कहो। किससे बात कर रही हूँ ? क्या तुम सुनते हो ? यदि हाँ, तो अपनी मोहिनी झलक क्यों नहीं दिखाते, मोहन !

लो, दीपक गया ! आशा भी गई। अब भी दौड़ आओ प्रियतम ! देर करने से प्राण-पखेरू भी उड़ जायँगे, प्राणेश !

कालिन्दी-कूल—

खड़े-खड़े आधी रात बीत गई। चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा छा रहा है। ऊपर काली घन-घटा है, नीचे कालिन्दी का श्याम प्रवाह ! कहीं कुछ सूझता तक नहीं। तारे भी नहीं झिलमिलाते। बड़ा विकट सन्नाटा है। रात साँय-साँय बोल रही है। कैसा भाँय-भाँय लगता है ! रह-रहकर यमुना की विक्षिप्त लहरें हृदय को और भी हिला देती हैं। बड़ा भयावना दृश्य है ! अकेली खड़ी-खड़ी क्या करूँ ?

सखी-सहेलियाँ छोड़कर क्यों यहाँ अकेली ही चली आई ? न जाने, मुझे यहाँ कौन खींच लाया ? खड़ी-खड़ी किसकी बाट जोह रही हूँ ? किस उलझन में पड़ी हूँ ? कुछ समझ में नहीं आता। कैसे धीरज धरूँ ! पैर थर-थर काँपते हैं। आँखें तिल-

मिला रही हैं। घड़ा व्यर्थ ही भरकर सिर पर लाद लिया अब गिरा ही चाहता है। कैसे सँभालूँ ?

दिया भी क्या बुझ जायगा ? इस तेज़ आँधी में, अञ्चल की ओट में, कब तक ठहरेगा ! कौन जानता है, कब बुझ जाय ! और तेल भी तो चुक गया है। क्या वश ? किसे मालूम था, कि मुझ अभागिनी के साथ ऐसी प्रवञ्चना की जायगी। मैं तो यही समझकर दौड़ी थी कि कालिन्दी-तट पर वह मर्मभरी रागिनी सुनने को मिलेगी, जिसने मेरे कल्पना-भवन में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की स्वर-लहरी प्रतिध्वनित की थी। पर सब धोखा ही निकला ! वेदान्तियों ने कदाचित् इसी अभितृष्णा को 'मृग-जल' कहा है।

एक बार और वह उन्माद-आमोदिता रागिनी सुनी थी। उस दिन भी वह मुझ मुग्धा मृगी के अन्तस्तल में बाण-सी बिध गई थी। पर, तब इस तरह घर-बार छोड़कर भागी नहीं थी। वहीं जी मसोस कर रह गई थी। आज की भांति उस दिन दौड़ी नहीं। आज की दशा तो कुछ विचित्र ही हुई। घरवालों के रोकते-रोकते भी घड़ा ले इधर चल पड़ी। भला, यह भी कोई पानी भरने का समय है ! सखी सहेलियों की ओर देखा तक नहीं। करील की कँटीली डाला में वस्त्र उलझ जाने तक का तो ध्यान नहीं रहा। फूल-माला तो, न जाने कहाँ टूट-टाट कर गिर गई। आँखें अपनी होतीं तो कुछ देखतीं। सुध तो तन तक की न थी; वस्त्राभूषण कौन सँभालता है।

आखिर, वह रागिनी हुई क्या ? अलापनेवाला कहाँ गया ? कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ ? सोचा था, कि उस रागिनी की धवल धारा से अन्तःकरण पखारूँगी, गायक को देखकर यह निस्तेज दृष्टि सौन्दर्य-सुधा से अनुप्राणित करूँगी। पर यह कुछ न हुआ। सुना क्या—उत्कण्ठित हृदय की धीमी प्रकम्पन-ध्वनि ! देखा

क्या—अदृष्ट का धुँधला मानचित्र! जान पड़ता है, यह विश्व-व्यापी अन्धकार मेरी ही निराशा का काला प्रतिबिम्ब है। तो क्या वह मोहिनी रागिनी भी मेरे ही विक्षिप्त अन्तर्नाद की प्रतिध्वनि थी? राम जाने, क्या था!

लो, दीपक भी गया! रहा-सहा धीरज था, वह भी गया। अब देखूँ, इस अनन्त शून्य-पट्ट पर मेरे रहस्य के अस्तित्व की क्षीण रेखा कब तक खचित रहती है!

अतिथि—

द्वार खोलो, अन्तर्यामिन्! यह बेचारा, हाय! कब से तुम्हारा द्वार खटखटा रहा है।

यह कोई पथिक है; और काले कोसों से दौड़ा आ रहा है। चलते-चलते पैर सूज गये हैं; तलुवों में छाले भी पड़ गये हैं। न जाने, यहाँ तक कैसे पहुँचा! देखते नहीं, बिलकुल शिथिल पड़ गया है? बोलने तक की शक्ति नहीं। ओठों पर पपड़ी पड़ गई है। प्यास के मारे जीभ तालू से लग गई है। अरे, कितना कृश है! कंकाल-मात्र शेष है। किसी प्रणय-आशा ने ही इसे अब तक सप्राण रखा है। नाथ! द्वार खोलो और इसकी सँभाल करो।

क्या कहा, कि किस काम से आया है? केवल तुम्हारी झलक लेने—और कोई काम नहीं। बड़ा भोला है। कहता है, मैं अपने पैरों थोड़े ही आया। न जाने, कौन यहाँ तक खींच लाया! सुना है, कि रात इसने तुम्हारी प्यारी सूरत सपने में देखी थी। जागते ही बावला हो गया। एक फटा-पुराना कंबल लपेटे तुम्हारी टोह में चल पड़ा। तुम लापता तो रहते ही हो। इससे बेचारा, न जाने कहाँ-कहाँ, खाक छानता मारा-मारा फिरा। इतने दिनों बाद आज कहीं इस, भूले-भटके योगी को तुम्हारा

पता चला है। सो, द्वार खोलकर बाहर पधारो, प्राणधा
निठुर न बनो, भक्त-वत्सल !

टुक आओ तो। बैठना मत; एक ही झलक दिखाकर च
जाना। सकुचते हो क्या ? या डरते हो ? तुम्हें यह बाँध क
कैद थोड़े ही कर लेगा। सर्वशक्तिमान् होकर एक निर्बल व
भी सामना नहीं कर सकते। तुम्हारी पहेली तुम्हीं जानो। ह
तो इतना ही कहते हैं कि द्वार खोल दो; पीछे जो तुम्हारे म
में हो, करना।

इसे देखकर तुम्हें अवश्य ही तरस आ जायगा। इ
निराश्रय का आज कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं। जो कुछ है, स
तुम्हारा द्वार। यहीं धूनी रमाकर डटेगा। यहाँ से टस से मस
होने का नहीं। बड़ा हठीला है। इसे कह सकते हैं लगन प
मर मिटनेवाला। बड़ी-बड़ी अधमुँदी आँखों से स्नेह-रस छलक
पड़ता है, पर तो भी बेचारी प्यास से छटपटा रही है। समुद्र
भी मछलियाँ प्यासी हैं ! रह-रहकर यह किसी मर्म-पीड़ा क
अनुभव कर रहा है। पूछने पर जवाब यह मिलता है कि मेर
दर्द, दर्द नहीं—एक मीठी-सी चुभीली कसक है। यही कसक
उसे यहाँ तक खींच लाई है। इसी से वह उसे प्राणाधिक प्यार
है। मुबारक हो ऐसा दर्द !

ऐसा अतिथि कदाचित् ही इस द्वार पर कभी आया हो
प्यारे, द्वार खोलकर इस मस्त पागल को इसी घड़ी दर्शन दो
ऐसे पाहुने नित्य तो आते नहीं। तुम्हें इसकी पहुनई भी, एक
तरह से, बहुत महँगी न पड़ेगी। सिर्फ एक बार इसकी ओर
मुसकरा भर देना। बस, मस्त हो झूमने लगेगा। सतृष्ण नेत्रों
की तीव्र पिपासा तो उसी क्षण शांत हो जायगी। मुरझाया
हुआ मुख एकदम खिल उठेगा। ओठों पर मुसकराहट की एक

पतली रेखा खिंच जायगी। तुम्हारी एक बार की चितवन से इस परिश्रांत पथिक का काया-कल्प हो जायगा। देखते-देखते रस-समुद्र उमड़ उठेगा। प्रेम-पर्व का क्या अच्छा सुयोग है! ऐसे आकस्मिक आतिथ्य से चूकना ठीक नहीं।

लो, द्वार खुला। इसके बाद क्या हुआ, कहने का अधिकार नहीं।

मुसकराहट—

क्या कभी वह मुसकराहट भूलेगी? ज्योंही वह मुसकराया, समस्त प्रकृति पुलकित हो उठी। निस्तब्ध आकाश उद्वेलित हो गया। धीर समीर में प्रकम्प होने लगा। कुसुम की कोमल कलियों पर रोमांच हो आया। लताएँ थिरकने लगीं। पाटल की पंखड़ियाँ पसीज उठीं। कमल-कोश से रस छलकने लगा। भौंरे अस्फुट ध्वनि से गूँजने लगे। पक्षी इधर से उधर उड़-उड़ कर चहकने लगे। अधिक क्या, माधुर्य मुकुलित हो उठा, विकास विकसित हो गया और लावण्य बार-बार उस मुसकराहट के कोमल स्पर्श को चूमने लगा।

कितने नेत्रों ने उस सुधा से अपनी प्यास बुझाई। कितने हृदय-पटलों पर वह इन्द्रधनुष की-सी सस्मित रेखा खचित हो गई! कितनों के मन-मृग उस स्मिति-पाश में उलझकर फँस गये! ओह! क्या से क्या हो गया! उस मुसकराहट में यदि बाँधने की शक्ति थी, तो साथ ही मुक्त करने की भी युक्ति थी। उसकी ओर देख देखकर विष और अमृत ने कई बार प्रेमालिंगन किया था। वहाँ मृत्यु और जीवन का भी प्रत्यक्ष समन्वय देखने को मिला था।

चतुर चितेरे रंग और कूची ले-लेकर उसकी तसवीर खींचने आए, पर बेचारे खड़े देखते ही रह गए। उनकी आँखें

ने उस तरल तरंगमाला में ऐसी उछल-कूद मचाई कि गरीब से कुछ न करते बना। उलटे आप ही उधर खिंच गये! यह दशा शब्द वाटिका के मालियों की भी हुई। उनकी प्रतिभा उस ओर ऐसे खिंच गई, जैसे लोहे को चुम्बक लपक लेता है। कुछ शब्द हृदय से बाहर निकलना चाहते थे, पर कण्ठ और मुख प कड़ा पहरा बैठा था! लेखनी कभी की पथरा गई थी। कहें तो क्या, और लिखें तो क्या?

जब कभी मैं उस मधुर मुसकान का ध्यान करता हूँ तब न जाने क्यों, निखरी हुई शरच्चन्द्रिका का स्मरण हो आता है हिम-मण्डित धवल शिखरों पर खेलने को मन दौड़ जाता है और कुछ ऐसा जान पड़ता है जैसे मेरी अधखुली आँखें पलकों को कच्चे दूध से पखार रही हों। समझ पड़ता है, शान्ति, सरलता और विमलता उस मुसकान से ही प्रस्फुटित हुई हैं,। विकास और प्रकाश उसी मुक्ति-नंदिनी के सरस अधरपल्लव हैं।

उस मुसकान की झलक एक ही बार क्यों मिली? वह अमृतमयी विद्युत्प्रभा एक ही बार चमक-दमककर क्यों अनंत अदृष्ट में लीन हो गई? आँखों में, बाट देखते-देखते, झाईं पड़ गई। कलेजा आह के धुएँ से धुँधला हो गया। पर वह चिदानंद बिलासिनी मुसकराहट आज तक सामने न आई! न जाने, किस कोप-भवन में मान ठाने बैठी है!

उसकी झलक कौन नहीं लेना चाहता? कितने तरसते नेत्र उस रूप की प्यास में तड़प रहे हैं? रात तो नित्य ही अगणित आँखें फाड़-फाड़ उधर देखा करती हैं। यही दशा वृक्षों, पक्षियों और पशुओं की भी है। देखें, अब कब उस मुसकराहट का सुधा-रस चखने को मिलता है!

ज्योत्स्ना—

लेखक—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

अपने रूपक-प्रधान नाटक 'ज्योत्स्ना' में कवि ने पवन एवं सुरभि से सम्भूत स्वप्न कल्पना के सच्चे प्रतिनिधि और प्रतिरूप मानव की महत्ता का मनोरम कथन किया है। उसने अपनी भावना के अनुरूप मानव जीवन के काल्पनिक उद्देश्य की व्याख्या की है। मनुष्य किन स्वर्गीय उपादानों से निर्मित है, और उसे किन मधुर लक्ष्यों की ओर अनवरत रूप से बढ़ना चाहिए इसका कवि ने काव्यात्मक तथा साङ्केतिक चित्रण किया है। इस रचना में काव्य और विचार-का सुन्दर समन्वय हुआ है।

—————

आठवीं तरङ्ग—

[रात्रि का द्वितीय प्रहर; भूलोक के निर्जन पर्वत-प्रान्त का एक दृश्य; अन्तरिक्ष के नीरव-कूलों में चाँदनी का अपार फेनिल सागर उमड़ रहा है। चारों ओर सीप के पङ्खों में उड़ते हुए व्योमचर होनेवाले अलौकिक दृश्य की सूचना दे रहे हैं। वायु के प्रश्वासों से वनौषधियाँ, फ़ासफ़रस की तरह सुलगकर, रङ्ग-बिरङ्गे आलोक उद्गत कर रही हैं। दूध की तरङ्गों के समान उठे हिम-शिखरों की उपत्यका में पृथ्वी के विशाल अञ्चल-सा मानस-सरोवर फैला हुआ है। हिम की उज्ज्वल शिलाओं में पुनः-पुनः प्रतिफलित चन्द्रातप, आँखों को चकाचौंध कर अनेक वर्णों की रत्नच्छाया प्रसरित कर रहा है।

सरोवर के बीच में बेला, जुही एवं कुन्द-कलियों की वन्दनवारों से सज्जित, चाँद की कला की आकृति की, विषद रुपहरी नाव है; नाव पर चाँदी की चौकड़ी भरते हिरनों की पीठ पर मोतियों से खचित हाथीदाँत का सिंहासन, जिसमें फेन-कोमल मखमल की ज़रीदार गद्दियाँ और तकिए लगे हैं। दोनों ओर से दो उड़ते हुए चाँदी के हंस, जिनके पङ्खों पर हीरे की कनियाँ दमक रही हैं। ऊपर आसमानी रेशम का घूमता हुआ छत्र मणि-किरणें विकीर्ण कर रहा है; छत्र की परिधि से मोतियों की लड़ियाँ झूल रही हैं।

सिंहासन के चतुर्दिक हँसमुख, किशोर-वयस ओसों की पाँति; आठ से दस साल के बच्चे, चमकीले टसर के वस्त्र अबरक के पत्रों में झलमला रहे हैं; चाँदी की चूर्ण अलकों में छोटे-छोटे मोती बिखरे हैं; उत्सुक अधीर दृष्टि; अङ्गों को हिला-डुलाकर बाल-सुलभ चञ्चल हाव-भाव प्रकट कर रहे हैं। बाईं ओर पुष्पों के हृदय से उच्छ्वसित दुर्निवार कामना-सी सुरभि, पुष्पों की चटकीली पङ्खड़ियों से लदी, लालसा-से लाल पल्लवों की चोली

करती, मदिरागंध निर्गत करती, केसरी अलकों में रजनीगंधा की माला बाँध रही है। दाईं ओर छरहरे बदन का सुंदर, स्वस्थ, युवक पवन अनिमेष अमृत दृष्टि से सुरभि का उन्मुक्त सौंदर्य पान कर रहा है। सरोवर में कुँई का वन, अँगूठे के बल खड़ा, मुग्ध दृष्टि से आकाश की ओर देख रहा है। इधर-उधर कुछ राजहंस लंबी-लंबी ग्रीवाएँ पीठ पर रक्खे सो रहे हैं।

ओस बाल-कौतूहल वश चारों ओर कुदक-कुदक कर, चंचल नाट्य-पूर्वक गाते हैं।]

पवन—सम्राज्ञी के आने में न जाने क्यों विलंब हो रहा है!

(आकाश में मधुर संगीत-ध्वनि गूँजती है।)

सुरभि—वह सुनो सम्राज्ञी का आगमन-सूचक मंगल-संगीत सुनाई पड़ता है। आकाश से मधुर स्वरों की पुष्प-वृष्टि हो रही है।

(धीरे-धीरे गीत-ध्वनि स्पष्ट हो उठती है।)

पवन—जान पड़ता है चिरकाल से मूक आकाश-वीणा आज अपने ही आनंद से मुखरित हो मधुर मंद झंकारों में गूँज उठी है।

(किरणों का मधुर, श्लक्ष्ण स्वर सुनाई पड़ता है।)

पवन—(आकाश की ओर संकेत कर) वह देखो उस तीव्र वेग से घूमते हुए ज्योति-बिन्दु को!

(सब उत्सुक-दृष्टि से आकाश को देखते हैं।)

एक ओस—मोती, देखो सम्राज्ञी का यान! (ताली बजाता है)

पवन—अब देखो, राजहंस की तरह प्रकाश के पंख फैलाये—

मोती—चटुल! पोत! (उँगली उठाकर) वह देखो; विमल! रत्ती! देखो! (सब ओस आश्चर्य-चकित देखते हैं)

पवन—असंख्य किरणों के पंख फैलाए एक नवीन आलोक-सृष्टि पृथ्वी पर अवतरित हो रही है। जान पड़ता है; भू-लोक को

समीप जानकर चतुर यान-वाहकों ने अपना वेग मंद कर लिया है।

(आकाश-वाणी)

किरणें—सम्राज्ञी! इंद्र, गंधर्व, मेघ मरुत-लोकों को पार कर अब हमारा यान भू-लोक के समीप आ गया है। वह देखिए नीचे पृथ्वी-तल का दृश्य!

ज्योत्स्ना—देख रही हूँ—दूर से शून्य दिगंत में घूमती हुई जो पृथ्वी गोल लट्टू के समान छोटी जान पड़ती थी और नीचे उतरने पर जो भूमि-रेखा समुद्र के उच्छ्वसित वक्ष में मुँह छिपाए, स्तन-पान करते हुए शिशु-सी लगती थी, वही पास पहुँचने पर, उच्च हिम-किरीट से शोभित, सरिताओं के चञ्चल मुक्ताहारों से मंडित, शस्य-श्यामल-अंचला, अनंत संतप्त प्राणियों की पुण्य-धात्री, अचला के रूप में बदल गई है। वे जुगुनुओं की तरह चमकते शायक धनिकों के प्रासाद हैं। और इधर-उधर, निष्प्रभ छीटों-सी छितरी, निर्धनों की दीन-हीन बस्तियाँ। बीच-बीच में लम्बे, पतले, साँपों की तरह बल खाए, टेढ़े-मेढ़े, वे शायद रास्ते हैं।

एक किरण—सूर्य के मुक्त प्रकाश में नृत्य करती, वायु के नील रेशमी अञ्चल को फहराती हरित शस्य की चोली पहने, हँसमुख चंचल बालिका-सी यह पृथ्वी सदैव से देवताओं की दुलारी रही है।

ज्योत्स्ना—ठीक कहती हो। असंख्य कोटि के जीवों एवं मनुष्यों से युक्त, वन-उपवन; मरु-उर्वर, पर्वत-समुद्रों से निर्मित यह पृथ्वी अपनी समस्त विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक है। ये अभ्रभेदी पर्वत और दुस्तर समुद्र भी इसकी एकता को नष्ट नहीं कर सकते। जिस प्रकार यह बाहर से एक है, उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक

विराट् संस्कृति की आवश्यकता है। यह समस्त विश्व-चक्र एक ही अखंडनीय सत्ता है, एक ही विराट् शक्ति के नियमों से संचालित है। मानव-जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गई है। उसके इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश में बाँधकर, समस्त विभिन्नता को एक विश्वजनीन स्वरूप देकर नियंत्रित करना होगा। अनियंत्रित प्रकृति विकृतिमात्र है। एक बार मैं समस्त मानव-समाज को महासागर की असंख्य तरंगों की तरह एक ही भावोच्छ्वास से आंदोलित-उद्वेलित एक ही नृत्य-लय में उठते-गिरते, और एक ही मानव-प्रेम के राग से मुखरित उल्लसित देख पाती!

किरणें—समस्त जीव-जगत् निद्रा की सुखद गोद में विश्राम कर रहा है। साँसों के आवागमन के सिवा प्राणियों के मनोलोक में संपूर्ण मानसी क्रियाएँ निश्चेष्ट हो सो रही हैं। इस समय जड़-चेतन में कुछ भी भेद नहीं जान पड़ता।

ज्योत्स्ना—किरणों, मेरा यान इसी मानस-सरोवर में उतरेगा, जो कोई की असंख्य आँखें खोल, अनिमेष हो, मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।

किरणें—ऐसा ही होगा, सम्राज्ञी!

[सब लोग एकटक आकाश की ओर देखते हैं]

[धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ता है एवं सारा दृश्य आलोक-प्लावित हो उठता है। इंद्रधनुषी किरणों द्वारा वाहित, मधुर-मुखरित, ज्योत्स्ना का दिव्ययान नाव पर अवतरित होता है। सरोवर में राजहंसों का दल असमय आँखें खुल जाने पर, ग्रीवा उठा-उठा कर कल-ध्वनि करता है।]

ओस—(एक साथ) सम्राज्ञी की जय!

पवन-सुरभि—सम्राज्ञी की जय!

[ज्योत्स्ना सिंहासन पर आसीन होती है। दाएँ-बाएँ पार्श्वों में पवन

और सुरभि, उनके चतुर्दिक् किरणें अपना स्थान ग्रहण करती हैं। ओस सिंहासन के दोनों ओर दो टोलियों में बँटकर चंचल नाट्य-पूर्वक मूक-अभिनय करते हैं।]

ज्योत्स्ना—(प्रसन्न भाव से) तुमसे और सुरभि से मिलकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई, पवन !

पवन—सदैव से स्वच्छंद-प्रकृति पवन को सम्राज्ञी के सौजन्य ने वशीभूत कर लिया।

सुरभि—सुरभि सम्राज्ञी की सेवा के लिये सदैव प्रस्तुत रहेगी।

ज्योत्स्ना—पवन ! संसार की इस समय क्या स्थिति है, मुझे संक्षेप में सुनाओ। तुम सदागति हो, तुमसे कोई भेद छिपा नहीं रहता।

पवन—सम्राज्ञी, इस युग के मनोजगत् में सर्वत्र ऊहापोह और क्रांति मची है। एक ओर धर्मान्धता, अंध-विश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से संग्राम चल रहा है; दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लौह-शृंखला की तरह जकड़े हुए है। बुद्धि का अहंकार, प्रखर त्रिशूल की तरह बढ़कर, मनुष्य के देवत्व-प्रिय स्वभाव एवं आदर्श-प्रिय हृदय को स्वार्थ की नोंक से छेद रहा है। विद्वान् लोग जीवन के गूढ़ प्रश्नों एवं विश्व की जटिल समस्याओं पर विज्ञान का नवीन प्रकाश डालकर सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को नवीन ढंग से सुलझाने की चेष्टा कर रहे हैं। विकासवाद के दुष्परिणाम से भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध एवं इंद्रियसुख से लुब्ध मनुष्य-जाति समस्त वेग से, जड़वाद के गर्त की ओर अग्रसर हो रही है। मानव-सभ्यता का अर्थवाद की दृष्टि से ऐतिहासिक तत्त्वावलोचन करने पर समस्त प्राचीन आदर्शों, विचारों, संस्कारों, नैतिक नियमों एवं आचार-व्यवहारों

के प्रति विश्वास उठ गया है। मनुष्य मनुष्य न रहकर एक ओर निरंकुश धनपति, दूसरी ओर आर्त श्रमजीवी बन गया है। इस आंतरिक विपर्यय के कारण संसार का मनोलोक, द्रवित वाष्प-पिंड की तरह प्रलय-वेग से घूमकर, अपने अंतरतम जीवन में समस्त विरोध-उन्मूलक एवं विश्व-व्यापी परिवर्तन का आवाहन करना चाहता है। अपने अस्पष्ट भविष्य को सुस्थ, स्पष्ट एवं सबल स्वरूप देकर मनुष्य संसार की सभ्यता के इतिहास में नवीन स्वर्ण-युग का निर्माण करना चाहता है। जब तक वह किसी संतोष-जनक परिणाम पर नहीं पहुँच सकेगा, सृष्टि के सरल, सुगम, सनातन नियमों पर उसका अविश्वास ही बना रहेगा। और, चारो ओर अज्ञान, अंधकार, पशुबल एवं तामसी प्रवृत्तियों का बोलबाला रहेगा।

ज्योत्स्ना—जान पड़ता है, मनुष्य को यथार्थ-प्रकाश की आवश्यकता है। इस अनादि, अनंत जीवन पर अनंत दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा सकता है। ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है, विकास नहीं हो सकता। सरल, सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शांति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है। आदर्श चिरंतन अनुभूतियों की अमर प्रतिमाएँ हैं, वे तार्किक सत्य नहीं, अनुभूत सत्य हैं। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने से उनका मूल्य नहीं आँका जा सकता; उन्हें निरपेक्षतः मान लेने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुँच सकता है। निरपेक्ष सत्य शून्य नहीं; वह सर्व है। प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष मूल्य भी है। आदर्श व्यक्ति के लिये असीम हैं। देश-काल-समाज आदर्शों की सीमाएँ हैं, सार नहीं; उनके इतिहास हैं, तत्त्व नहीं।

(नेपथ्य में झिल्ली की कर्कश झंकार सुनाई पड़ती है)

ज्योत्स्ना—पृथ्वी पर उतरते ही मर्त्यलोक के प्राणियों का तर्क-वितर्क, ऊहापोह, चीत्कार-किलकार कानों के परदे फाड़ने लगा! इस आनंद-पूर्ण सृष्टि का अर्थ इन्होंने जीवन-संग्राम समझ लिया है। रात-दिन द्वंद्व-संघर्ष, वाद-विवाद, ईर्ष्या-कलह के सिवा इन्हें और कुछ सूझता ही नहीं। हाय! इन्द्रियों की मदिरा पीकर यह मनुष्य-जाति उन्मत्त हो गई है। इसने अपनी आत्मा के अमर आनंद को क्षण-भंगुर इंद्रियों के हाथ बेच दिया है! इसकी समस्त शक्ति मृगतृष्णा के स्वर्ग का निर्माण करने में लगी है, जो इसे विनाश के मरु में भटकाकर सदैव और भी दूर हो जाता है। प्रकृति की इस अपार रूप-राशि पर मुग्ध होकर मनुष्य का प्रकृतिवादी बन जाना आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु इससे मुक्त न हो सकना अवश्य ही दुःख की बात है।

[एक नाटे कद, गठीले बदन के बलिष्ठ मनुष्य के वेश में झींगुर का प्रवेश। ताँबे का-सा रंग, दृढ़ पुट्ठे; लोह-तार-सी नाड़ियाँ; सख्त चौड़ा पंजा; मोटी, न मुड़नेवाली उँगलियाँ; काँच की-सी चमकीली भाव-शून्य आँखें; मोटे होंठ, तीर-सी तनी लंबी-लंबी बँटी मूँछें। इस मनुष्य के अंगों में मांस का लचीलापन नहीं, वे मशीन के पुरजों की तरह एक निश्चित यांत्रिक भाव से संचालित हो रहे हैं। मुखाकृति में एक प्रकार की अविश्वास-जनित तीव्र सतर्कता व्याप्त है। इसके कंधों पर लोहे की बुनी जाली, कलाइयों पर लोहे के पट्ठे बँधे हैं। कमर में पिस्तौल, तलवार, चाकू आदि अस्त्र-शस्त्र लटक रहे हैं। हाथ में वाद्य के ढंग का लोह-यंत्र है, जिस पर वह आरानुमा लोहे का गज़ फेरकर, एक प्रकार का कर्कश घर्घर-रव पैदा करता हुआ, पुरुष स्वर में गा रहा है।]

ज्योत्स्ना—पवन, इस मर्त्यलोक के दूत से कहो, अपना

बेसुरा आलाप बंद करे, नहीं तो हम बहरे हो जाएँगे।

[बाजे में कर्कश-नाद करते हुए झींगुर का प्रस्थान।]

ज्योत्स्ना—मनुष्य का ऐसा बर्बर वेश देखकर, उसके मुँह से पाशविक सिद्धांतों एवं आसुरी उद्‌गारों को सुनकर आश्चर्य होता है। "समर्थ और शक्तिशाली को ही जीने का अधिकार है", "दुर्बलों का दैव भी घातक है", आदि,—नैतिक अतिवाद जीवन के नियम बन रहे हैं। सर्वत्र अतृप्ति ही अतृप्ति है। घृणा से घृणा ही बढ़ती है। वैमनस्य से वैमनस्य ही पैदा होता है। स्नेह, ममत्व, सहृदयता आदि मानव-स्वभाव की उच्च विभूतियों से उसका विश्वास ही उठ गया है। ना, ना, इस तरह मेरा कार्य नहीं चलेगा। मनुष्य को इस अपूर्ण एकांगी बुद्धिवाद से ऊपर उठना पड़ेगा। (पवन और सुरभि से) पवन! तुम्हारे स्वभाव की उत्तेजनशील भाव-प्रवणता और सुरभि के सौंदर्य की अतिशय मादकता से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। सुरभि, तुम तरुण वसंत के हृदयोच्छ्वास से निःसृत, यौवन की उद्दाम लालसा की सजीव प्रतिमा हो। तुम दोनों के मधुर-सम्मिलन से मनुष्य-जाति के मङ्गल के लिए मैं दो सूक्ष्म तत्त्वों को जन्माना चाहती हूँ। जो अपनी ही सूक्ष्मता के प्रभाव से संसार के मनोलोक में प्रवेश कर, मनुष्यों के हृदय में उन्नत, संस्कृत भावनाओं का विकास एवं प्रचार करेंगे।

पवन-सुरभि—सम्राज्ञी की इष्ट-सिद्धि के लिए पवन और सुरभि अपने जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत हैं।

ज्योत्स्ना—(प्रसन्नतापूर्वक) मुझे तुम लोगों से यही आशा थी। मेरी अलौकिक शक्ति तुम्हारे इस आत्मत्याग में सहायक होगी।

ज्योत्स्ना खड़ी होकर, दोनों हाथों से अपने अञ्चल-छोर को नात्र

पर बैठे हुए ओस और किरणों के ऊपर फेरती है। चाँदनी के स्वप्निल प्रभाव से सब लोग अपने स्थान पर बैठे ऊँघने लगते हैं; एवं माथ झुकाकर धीरे-धीरे तंद्रामग्न हो जाते हैं। चारों ओर हरे रंग का आलोक फैल जाता है। वायु-मंडल में बुक्के का चूर्ण प्रकाश-कणों की तरह बरस-बरसकर चमकने लगता है। ज्योत्स्ना ताली बजाती है। छोटे-छोटे पंख फैलाए हुए द्वीपों-से जुगुनू, ऊपर से परियों के बच्चों की तरह उतरकर चारों ओर उड़-उड़ कर, मौन नाट्य-पूर्वक नृत्य करते हैं। पाँच से सात साल तक के बालक, हलके वस्त्र पहने, पीठ पर बिजली का छोटा-सा बल्ब लगाए जुगुनुओं का अभिनय करते हैं। नेपथ्य में बाजा बजता है। प्रकाश धीरे-धीरे नीला, पीला, गुलाबी, बैगनी कई प्रकार के रंग बदलता है, और जुगुनुओं का रंग भी उसी प्रकार परिवर्तित होता जाता है।

[इसी बीच में ज्योत्स्ना पवन और सुरभि को अपनी छिगुनी से छू देती है; दोनों उद्दीपित हो एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। पवन निर्निमेष दृष्टि से सुरभि के मुख को देखता हुआ धीरे-धीरे उसके पास पहुँचता है। दोनों की चार आंखें होतीं हैं, सुरभि का सिर झुक जाता है। पवन सुरभि का हाथ अपने हाथ पर लेता है। दोनों देर तक एक दूसरे का मुख देखते हुए अपने को भावावेश में भूल जाते हैं।]

पवन—सुरभि!

सुरभि—नाथ!

पवन—तुम अपनी मादक साँसें पिला-पिलाकर मेरी आँखों के सामने यह किस छाया-लोक की सृष्टि कर रही हो, प्रिये! मैं घूम रहा हूँ! उसे लोक की सौन्दर्य-सुषमा के सामने यह संसार विश्री और बासी लगता है। तुम्हारे अस्फुट हृदय में इतना लावण्य, इतनी मादकता और मधुरता कहाँ छिपी थीं, प्रियतमे!

सुरभि—मेरे अनन्त यौवन का मधु तुम्हारे ही लिए है,

प्रियतम ! मेरी हृदय-कली के तुम्हीं एकमात्र मधुप हो।

[प्याली की आकृति की अधखिली कली पवन के ओठों से लगती है। पवन मधु-पान करता है।]

पवन—तुम्हारे पिलाए मधु से तृप्ति ही नहीं होती। (फिर पीता है) ओह, मेरे अङ्ग-अङ्ग शिथिल होते जा रहे हैं। अलस इच्छाओं के सुख से पलकें लदकर झूमने लगी हैं। इच्छामयी ! कामनामयी ! (मुँदती हुई आँखों को चेष्टापूर्वक खोलकर) प्रियतमे !

सुरभि—प्रियतम !

[पवन सुरभि को पास बिठाकर अपनी बाँहों में बाँध लेता है। दोनों देर तक इसी प्रकार प्रेम-विह्वल एवं बेसुध रहते हैं। ज्योत्स्ना जुगनुओं को संकेत करती है। जुगनू पवन और सुरभि के चारों ओर मँडराकर गाते हैं।]

पवन—(आँखें बन्द किए) आँखों के सामने परदे के बाद परदे खुल रहे हैं। कैसा अपार सौन्दर्य है ! कैसा असीम आनन्द ! यह छाया-जगत् ही संसार का मनोलोक है, जिसके नेपथ्य में छिपी हुई अदृश्य सूक्ष्म शक्तियाँ विश्व के रङ्गमञ्च पर अभिनय करने को अवतरित होती हैं। रूप, छवि, प्रतिछवि !—सब कुछ सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम होता जा रहा है ! ओह, इस भावना का कहीं अन्त है !

सुरभि—कैसा सम्मोहन ! कैसी परितृप्ति है ! मेरा हृदय देह के बन्धनों से मुक्त हो, सदैव के लिए इस सौन्दर्य के स्वर्ग में लीन होकर तदाकार बन जाना चाहता है ! कैसा मधुर-मधुर आकर्षण है !

पवन—प्रिये, यह जागृति है या स्वप्न ?

सुरभि—नाथ, यह सत्य है या कल्पना ?

[स्वप्न और कल्पना साकार हो दो देव-दूतों की तरह, ऊपर से

उतरकर पवन और सुरभि के सामने झूलने लगते हैं। स्वप्न सुन्दर, सुकुमार युवक; विस्मय से पूर्ण निर्मल नील नयन; गुलाब-से सस्मित कपोलों पर पीले भौंरों की पाँति की तरह सुनहली अलकें बिखरी, बदन में रेशमी आलोक की छाया वस्त्र की तरह लिपटी है, जिससे देह की आभा बालातप-सी झलक रही है। दोनों कंधों पर विस्फारित पलकों की तरह दो आलोकित पंख हैं। नीचे की देह में नीहारिका की तरह हलका आसमानी वेष्टन झूल रहा है।

कल्पना विकच-यौवना, सर्वांग-सुन्दरी; अकूल नील नयन; कोमल दृष्टि; मेधावी नासिका; सरल अकलुष स्मिति; सजीव कपोल; स्वभाव-संस्कृत मुखाकृति; अनेक रंगों का छायातप झीने पट की तरह अंगों में झूल रहा है, दोनों कंधों पर मयूर-पुच्छ की तरह दो पंख हैं।]

पवन—कैसा स्वर्गीय सौन्दर्य है !

सुरभि—कैसा स्वर्गीय सम्मोहन !

[ज्योत्स्ना ताली बजाती है। जुगनू धीरे-धीरे ओझल हो जाते हैं। पवन और सुरभि आलिंगन-पाश खोल यत्न-पूर्वक उठकर अपने-अपने स्थानों पर खड़े हो जाते हैं। ओस और किरणें आँखें खोलती हैं। स्टेज पर हलका आसमानी प्रकाश छा जाता है। स्वप्न और कल्पना पृथ्वी पर अवतरित हो साम्राज्ञी का अभिवादन कर गाते हैं। सब लोग आँखें मल-मलकर एकटक उनकी ओर देखते हैं।]

स्वप्न और कल्पना—इन मानवी भावनाओं के वस्त्र पहना एवं मानवी रूप, रङ्ग और आकार ग्रहण करा कर हमें आपने उन्मुक्त निःसीम से किस दिव्य प्रयोजन के लिए अवतीर्ण करवाया, सम्राज्ञि ! वह कौन-सा देव-कार्य है ? स्वप्न और कल्पना उसे जानने को उत्सुक हैं।

ज्योत्स्ना—तुम्हारी उत्सुकता स्पृहणीय है। स्वप्न और कल्पने ! सुनो, इस बुद्धिवाद के भूलभुलये में खोई हुई, दानव,

सापेक्षवाद, विकासवाद आदि अनेक वाद-विवादों की टेढ़ी-मेढ़ी पेचीली गलियों में भटकी हुई, नास्तिकता और सन्देहवाद से पीड़ित, पशुओं के अनुकरण में लीन मानव-जाति का परित्राण करना है। उसकी आँखों के सामने जीवन का नवीन आदर्श, सौन्दर्य का नवीन स्वप्न, स्नेह-सहानुभूति एवं समत्व का नवीन प्रकाश, सुख और शान्ति का नवीन स्वर्ग निर्माण करना है। उसे प्रेम के अधिक विस्तृत राजमार्ग पर चलाना है। धर्मान्धता, रूढ़ि-प्रियता, प्रेतपूजा, निर्मूल प्रथाओं एवं निरर्थक रीति-नीतियों के बन्धनों से मुक्त करना है। उसकी बुद्धि को अधिक सरल, हृदय को अधिक उज्वल बनाना है। उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करना है।

स्वप्न-कल्पना—हमारा आना सार्थक हुआ।

ज्योत्स्ना—काव्य, संगीत, चित्र, शिल्प द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करना है। इसके लिए कौन-सी राह सुगम होगी, कौन-सी पद्धति अचूक होगी, यह तुम लोगों को सोचना है। तुम दोनों मानव-जाति के कल्याण एवं मुक्ति का द्वार खोलने में मेरी सहायता करो। तुम्हारी अलौकिक शक्ति, वायवी प्रतिभा एवं मायावी आकर्षण के प्रभाव से यह कार्य अधिक सुगमता से संपन्न हो सकेगा, इसीलिए मैंने तुम्हारा आवाहन किया है।

कल्पना—सम्राज्ञी के उन्नत उदार हृदय का परिचय पाकर मैं कृतज्ञ हुई। समय-समय पर मानव जाति के सम्मुख एक-से-एक ऊँचे आदर्श रक्खे गए, पर कोई भी आदर्श उसका संपूर्णतः परिष्कार नहीं कर सका। सदैव से मनुष्य में उसी तरह सद्-असद् प्रिय-अप्रिय का सम्मिश्रण रहा है, भले ही उसमें मात्राओं

का न्यूनाधिक भेद रहा हो। विगत युगों का मनुष्य मनस्तत्त्व की विवेचना में अधिक सफल नहीं हुआ, इसीलिए मनोजगत् को अनिर्वचनीय, माया आदि अनेक नाम देकर, त्याग-विराग की सहायता से अपने को भुलावे में डाल, उसने जीवन को अज्ञान-जनित, दुःख-जनित समझ लिया और अपनी आत्मा के लिए एक काल्पनिक स्वर्ग का इन्द्रजाल निर्मित कर इस जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख के चिर आलिङ्गन-पाश में बँधी हुई जीवन की कठोर वास्तविकता से छुटकारा पाने के लिए उसने अनेक छाया-सत्यों पर अवलम्बित एक मिथ्या आत्म-प्रवञ्चना का आश्रय ग्रहण किया। जिस असीम जीवन-शक्ति के अमर स्पर्शों से यह चेतना-शून्य मिट्टी अनेक रूप-रङ्गों में पुष्पित-पल्लवित हो, मृत्यु के अन्धकार से चेतना के प्रकाश में आ, असंख्य जीवों एवं प्राणियों का सुन्दर आकार-प्रकार धारण कर ऐश्वर्यमयी होती रहती है; उसके स्नेह-पाश से मुक्त होकर फिर से श्वास को वायु में, देह को मिट्टी में मिला देना ही उसका चरम लक्ष्य रहा! इस युग के मनुष्य का ध्यान भूत-प्रकृति की ओर गया है। संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुःखों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाह्य प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति पाने की ओर लगी है। जिसके लिए उसने भूत-विज्ञान की सृष्टि की है। वह देश-काल एवं भौतिक शक्तियों को हस्तगत कर रहा है। यह भूत-प्रकृति ही उसके कष्टों का कारण है या कुछ और भी, इसका ठीक-ठीक निर्णय वह अभी नहीं कर पाया। मानव-जीवन के बाह्य क्षेत्रों एवं विभागों को संगठित एवं सीमित कर, अपने आन्तरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है।

स्वप्न—(अपनी विस्मय-पूर्ण दृष्टि एकत्र कर) मनुष्य-जाति को सदैव से सौंदर्य-विभ्रम, प्रेम का स्वर्ग, भावनाओं का इंद्र-जाल और दारुण दुर्गम वास्तविकता का विस्मरण अथवा भुलावा पसंद रहा है। उसके सूक्ष्म वायवी हृदय-तत्व को एवं सीमा-हीन आकांक्षाओं को इसी में परितृप्ति मिलती है। मनुष्य सत्य की ओर आँख उठाने में डरता ही नहीं, एकदम नग्न सत्य को देख सकने में असमर्थ भी है। सम्राज्ञी का मनोरथ सहज ही में सिद्ध हो जाय; यदि मनुष्य के लिए एक और भी अधिक उत्तेजक, मादक, मोहक, सूक्ष्म और मार्जित छलना की सृष्टि कर दी जाय; जिसके सौंदर्य-जाल पर मुग्ध होकर वह विलासिता, कदर्य पशुता, जड़वाद आदि की दासता से मुक्त हो सके। सम्राज्ञी की आज्ञा हो, तो मैं अपनी दिव्य वायवी शक्तियों का परिचय दूँ, और मनुष्य की आँखों के सामने एक ऐसे अननुभूत ऐश्वर्य और स्वर्गीय सौंदर्य का अलौकिक इंद्रजाल उछाल दूँ, कि वह इंद्रियों की देह से मुक्त होकर एक अभिनव सूक्ष्म शोभा के मात्राकाश में विचरण करने लगे।

ज्योत्स्ना—(आशान्वित होकर) उपायों के बारे में तर्क कर समय खोना ठीक नहीं; कोई भी उपाय हो, उन्नत और कल्याण-कारी हो। समय पर और भी सुंदर उपाय पैदा होते रहते हैं। स्वप्न ! मुझे तुम्हारी विश्व-मोहिनी शक्ति पर पूरा विश्वास है। मेरे विचारों के प्रचार एवं मनोरथों की पूर्ति के लिए तुम जिन उपायों को उचित समझो, स्वतंत्रता-पूर्वक काम में लाओ। मैं तुम्हें पूर्ण अधिकार देती हूँ।

स्वप्न—(प्रफुल्लित होकर) सम्राज्ञी को विजय प्राप्त करने में विलंब नहीं होगा। मैं अपनी कल्पना के साथ दिन-भर के काम-काज से श्रांत एवं निद्रा में निमग्न मनुष्य-जाति के मनोलोक में

प्रवेश कर उसकी पलकों में नवीन स्वप्नों का चित्रपट बुनता हूँ; उसके मन को स्थूल-वासनाओं के मोह से मुक्त कर अभिनव सौंदर्य, अभिनव सुख, अभिनव संस्कृति के आकाश में उठा देता हूँ। सम्राज्ञी यहाँ बैठे-बैठे मेरे विश्व-विदित सम्मोहन का जादू देखें। मैं अपना मायावी चित्रपट आपके सामने खोले देता हूँ। पलकों में स्वप्नों की तरह, मानव-जाति का समस्त भविष्य, अनेक रहस्य-पूर्ण रूपों एवं छाया-छवियों में उसमें प्रतिबिंबित होता रहेगा। [स्वप्न आकाश की ओर संकेत करता है। ऊपर से एक स्वच्छ पट, परदे की तरह यवनिका के सामने झूलने लगता है।]

ज्योत्स्ना—मैं आनंद एवं उत्सुकता के साथ तुम्हारी दिव्य प्रतिभा का चमत्कार देखूँगी।

स्वप्न-कल्पना—तो आज्ञा दीजिए।

ज्योत्स्ना—अवश्य, तुम जाकर अपना कार्य आरंभ करो।

[सहसा प्रकाश मंद एवं धुँधला पड़ जाता है। तंद्रालोक की मृदुल, शिथिल, घन-अलस वायु चारों ओर व्याप्त होने लगती है; जिसके मधुर सुख-स्पर्शों से सब लोग झूम-झूमकर अपूर्व स्वप्नावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। जलते हुए नक्षत्रों की तरह अनेक रंग-बिरंगे उज्ज्वल प्रकाश-मंडल आँखों को चकाचौंध कर दृश्य-पट पर चक्राकार घूमने लगते हैं; जिनसे धीरे-धीरे, कई आलोक-आकृतियाँ, मनोहर वर्णों की जगमगाहट में स्वरूप ग्रहण कर, परदे पर अवतरित होती हैं। जान पड़ता है, जैसे स्वर्ग का सौंदर्य, अपने ही उल्लास की अतिशयता से अनेक आलोक-निर्झरों में फूट-फूट पड़ा हो। शनैःशनैः ये आकृतियाँ अधिक स्निग्ध एवं स्पष्ट आकार धारण करती हैं। नेपथ्य में बाजा बजता है; अनेक वाद्यों की मधुर मिश्रित झंकारों से समस्त वायु-मंडल, संगीत के श्वास-प्रश्वासों से मधुमय हो, गूँज उठता है।

स्वप्न और कल्पना सुप्त मनुष्य-जाति के मनोलोक में प्रवेश कर

मनुष्यों में नवीन संस्कार एवं भावनाएँ जाग्रत् करते हैं। फलतः नवयुग का निर्माण करने के लिए, मनःस्वर्ग से देव-बाल और बालाएँ प्रकट होकर, अनेक मनोरम मानसी प्रतिमाओं का आकार-प्रकार ग्रहण कर चित्रपट पर अवतरित होती हैं। ये आकृतियाँ विविध प्रकार के दिव्य, रमणीय वस्त्रों से विभूषित हैं। कोई बारीक रेशमी रोओं से आच्छादित, कोई किसलयों की लालिमा एवं पुष्पों के पराग से परिवृत, कोई इन्द्रधनुषी छायाभास से मण्डित, कोई साँझ के विरल जलदों, रङ्गीन वाष्पों, अभ्रक के पत्रों एवं झिलमिलाती रश्मियों से वेष्टित हैं। कुछ छोटे-छोटे बालक एवं बालिकाएँ नग्नप्राय हैं; इनके कन्धों से पैरों की ओर हलकी फेन की जालियाँ लिपटी हैं।

इन आकृतियों के पाँव फर्श को नहीं छूते, प्रत्युत, अपने ही हलके-पन के कारण, सङ्गीत की उठती-गिरती लहरों पर, ताल-लय पूर्वक नृत्य करते एवं गाते हुए, ये ऊपर-नीचे एक ओर से दूसरी ओर वाहित होते रहते हैं। इन सृजन और पालक-शक्तियों में कुछ के रूप व्यक्त, कुछ के अभी अर्द्धव्यक्त एवं अव्यक्त हैं। कुछ के नाम हैं कुछ के नहीं; उनके लिए अभी शब्द नहीं बने। वे भविष्य में अपने आकार एवं नाम ग्रहण करेंगे।

परदे पर प्रतिफलित छाया-छवियाँ भाव-भङ्गी-पूर्वक मूक-नाट्य एवं भाव-नृत्य करती हैं।]

ज्योत्स्ना—(स्वप्नावेश से उठकर) धन्य है स्वप्न के उर्वर हृदय और कल्पना की सूक्ष्म सूझ को ! मैं इन्हीं सृजन और पालन-शक्तियों का प्रादुर्भाव एवं विकास चाहती हूँ ! इनके सम्मोहन में बँधकर मनुष्य-जाति अपनी तामसी वृत्तियों की जघन्यता एवं कुरूपता से अवश्य मुक्त हो जायगी। इस पृथ्वी पर स्वर्ग की विभूतियाँ अभिसार करने लगेंगी।

सुरभि—सम्राज्ञी का स्वप्न सफल होगा, इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं।

पवन—इन स्वर्गीय शक्तियों का आविर्भाव संसार की मनोभूमि पर अवश्य हो गया है; पर अब यह देखना है कि मनुष्य की मिट्टी का अन्धकार इन प्रकाश-पुत्रों के रूप-रंगों को कहाँ तक ग्रहण कर सकता है। संसार के सैकत-तट पर इन देव-दूतों के दिव्य पद-चिह्न कब तक ठहर सकते हैं। पाषाण को प्रतिमा का स्वरूप देकर उसमें जीवन के हाव-भाव भर देना सरल है; किन्तु स्वप्नों के वायवी सौन्दर्य को स्थूल वास्तविकता के पाश में बाँध देना असंभव नहीं, तो दुष्कर अवश्य है। सम्राज्ञी की कृपा से मुझे इस पृथ्वी पर अनेक नवीन युगों की ध्वजाएँ फहराने का भार सौंपा गया है, मैंने पशु-प्रवृत्तियों की तामसी संतानों को सहज में परास्त होते नहीं देखा। इस भू-लोक के कुछ दार्शनिक तो तमोगुण के तिरोभाव को असम्भव मानते हैं, और उसे सृष्टि के विकास के लिए एक आवश्यक उपादान समझते हैं।

सुरभि—फिर न जाने हृदय क्यों ऐसा चाहता है कि संसार से यह तामसी विनाश उठ जाय, और यह सृष्टि प्रेम की पलकों में, अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौन्दर्य का स्वप्न बन जाय!

[छायाकृतियाँ मूक-अभिनय समाप्त कर धीरे-धीरे अन्तर्धान हो जाती हैं। दृश्य-पट पर आसमानी प्रकाश, आकाश की तरह फैल जाता है, और उसमें पुञ्ज-पुञ्ज प्रकाश-मण्डलों से अवतरित हो, सौर चक्र के विविध ग्रह, उपग्रह एवं नक्षत्र, उज्ज्वल आलोकमयी मानवाकृतियाँ धारण कर सूर्य के चारों ओर घूमने लगते हैं।]

सुरभि—वह देखिए, सम्राज्ञि! नेत्रों को चकाचौंध करनेवाला सौरमण्डल का जाज्वल्यमान दृश्य!

[शनैःशनैः सौरमण्डल का दृश्य क्षीण होकर अदृश्य हो जाता है। उसके स्थान पर शून्य में घूमता हुआ भूगोल का दृश्य सामने आता है, जिससे सूर्यातप में, समुद्र की नील तरङ्गों पर नृत्य करती हुई अनन्त-

यौवना, मातृ-स्वरूपा पृथ्वी अवतीर्ण होती है। नील अनिल का फहराता हुआ रेशमी दुकूल; विशाल पयोधरों पर हरीतिमा की कंचुकी; अङ्गों में अनेक मणि-रत्नालङ्कार, गले में लम्बी-लम्बी उज्ज्वल मोतियों की लड़ियाँ; अशान्त प्रसन्न आनन; सिर पर बालेन्दु से मण्डित रजत-हिम-किरीट; दाएँ हाथ में धान की सुनहली बालियाँ, बाएँ हाथ में सलिल-सुधा से पूर्ण स्वर्ण-पात्र।

पृथ्वी के तिरोहित हो जाने पर, परदे पर एक रमणीक उपवन का दृश्य प्रतिफलित होता है, जिसमें भाँति-भाँति के फूल एवं फलों के वृक्ष शोभा-भार से लदे हुए हैं। शाखाओं पर तरह-तरह के पक्षी कुदक-कुदक कर कलरव कर रहे हैं। इधर-उधर हिरनों और पालतू पशुओं के निर्भीक झुण्ड विचर रहे हैं। बीच-बीच में छोटे-छोटे सुन्दर गृह एवं पट-मण्डप बने हैं। मनोहर वेशों में सुन्दर स्वस्थ बालक-बालिकाओं और युवक-युवतियों के गिरोह उपवन में टहलते, एवं कुञ्ज-वितानों में क्रीड़ा-कौतुक, आमोद-प्रमोद करते, फूल चुनते, हार गूँथते, फलों का आस्वादन करते दृष्टिगोचर होते हैं।]

ज्योत्स्ना—यह शान्त, शिष्ट, सुख-सम्पन्न, नवीन मनुष्य जाति का दृश्य है। यही मानव पृथ्वी के ऐश्वर्य, पूर्ण चेतना के उज्ज्वल प्रतीक; जीवन-वसन्त के मानवी कलि-कुसुम हैं।

[धीरे-धीरे उपवन का दृश्य हट जाता है, और उसका एक भाग स्पष्ट एवं वृहद् आकार में परदे पर झूमने लगता है।

मौलसिरी की छाया में हरी-भरी दूर्वावृत पृथ्वी पर जॉर्ज नामक एक युवक बैठा हुआ उपवन की शोभा देख रहा है, उसकी जाँघ पर कुहनी के बल नवयुवती यमुना लेटी है। जॉर्ज फ़ौन रङ्ग के पौपलिन की कमीज और जाँघिया पहने है। पाँवों में उसी रङ्ग के रेशमी होज हैं। यमुना हलकी आसमानी रङ्ग की साड़ी, उससे गहरे रङ्ग का जम्पर पहने है। पाँवों में मखमली जूती है।]

सुरभि—वह देखिए, सम्राज्ञि ! नवीन मानव जाति का एक और दृश्य ! जान पड़ता है, इन प्रकाश पुत्रों ने विश्व की मनोभूमि पर अवतीर्ण होते ही अपने दिव्य प्रभाव से मनुष्य जाति की सभ्यता में नवीन स्वर्ण-युग का समारम्भ कर दिया !

ज्योत्स्ना—अब हम लोग चुपचाप रहकर, अनिमेष दृष्टि से नवीन युग की मानव-जाति के दृश्यों का अनुशीलन करें। देखें, ये लोग उन सूक्ष्म सृजन शक्तियों की सात्त्विक भावनाओं एवं स्वप्न और कल्पना के वायवी सौन्दर्य को किसी सन्तोष-जनक मात्रा तक अपने जीवन में अनुवादित कर सके हैं या नहीं।

[छायाकृतियाँ वार्तालाप करती हैं।]

सङ्कल्प—

लेखक—श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

'हृदय' भाव-प्रधान कहानी लिखा करते थे। उनकी रचनाओं में कथा-पक्ष की न्यूनता एवं भावों की भव्यता सर्वत्र प्राप्त होती है। परन्तु भाव-स्वरूप का जितना अनुरागपूर्ण कथन दिखाई पड़ता है उतनी सक्रियता का विस्तार उनमें नहीं दिखाया गया। 'प्रसाद' की भाँति 'हृदयेश' में भी आधार-आधेय का सुन्दर समन्वय मिलता है। इसकी भाषा काव्य और अलङ्कार प्रधान तो है ही, साथ ही उसमें शब्दाडम्बर भी अधिक है। इस कहानी में लेखक ने चित्रित किया है कि जीवन की सार्थकता त्याग एवं सेवा में है। जिसमें ऐसा मङ्गल सङ्कल्प उत्पन्न होता है वह सङ्कुचित विलास और सुख-बन्धन से मुक्त होकर महत् बन जाता है। उसके लिए सम्पूर्ण वातावरण सरस और अनुकूल दिखाई पड़ने लगता है।

नवीं तरंग—

(१)

आदानं ही विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।

—कालिदा

विशुद्ध हृदय-कानन के कलित कल्प-कुंज में, भाव-मंदाकिन के दुकूलवर्ती विमल शिला-खंड पर बैठे हुए धर्म्म के पादपद में स्थिर होकर, ऐश्वर्य ने पूछा—"मेरे जीवन की सार्थकत कहाँ है?" धर्म ने उत्तर दिया—"त्याग की वेदी पर।" ऐश्वर्य ने उल्लसित होकर पुनः प्रश्न किया—"कहाँ पाऊँगा?" धर्म ने अपने आशीर्वाद-पाणि को ऐश्वर्य के वैभव-भूषित मस्तक प रखकर कहा—"सेवा के सदन में।"

राजीव ने सोचा—सेवा का अनन्त-व्यापी साम्राज्य है पंचतत्व अपने द्वार पर भिक्षुक की अच्छी अपेक्षा न करके स्व उसके द्वार पर सेवा करने को प्रति मुहूर्त समुपस्थित रहते हैं। सूर्य्य की नृत्य करती हुई किरण-माला, वर्षा की शीतल जल-धारा चंदन-गंधवाही समीर, अनंत नभ-प्रदेश की क्षीर-धौत प्रफुल्ल लक्ष्मी प्रकृति का परमोत्कृष्ट वैभव—सब मिलकर मानों व्यथित की व्यथा को, वेदना की ज्वाला को, अभाव के कठोर कष्ट को दूर करने के लिए विश्व में अवतीर्ण होते हैं। विश्व की सेवा में आत्म-संतोष की उपलब्धि के लिए, सतत रत रहते हैं। कैसा सुन्दर दृश्य है; कैसा पावन उद्देश्य है; कैसा पुण्य-संकल्प है; कैसी पवित्र साधना है।

राजीव ने अपने हृदय में आत्मा की स्वतः प्रकाशमान ज्योति को मानसिक लोचनों के द्वारा देखा, चकित होकर देखा कि

स्वार्थ, द्वेष इत्यादि, सूर्य्योदय पर उलूक-पंक्ति की भाँति भागे जा रहे हैं। राजीव ने फिर सोचा—संतोष के मुख-कमल की मंद-मुसकान कैसी सुन्दर है; निःस्वार्थ दान की विमल जल-धारा में स्नान करके संतोष-जाया दरिद्रता कैसी शोभित होती है; आश्वासन की शीतल छाया में बैठकर पश्चात्ताप की हृदय-वल्लरी का कैसा करुण स्वर उत्थित होता है; सहानुभूति के कुसुम-कोमल-क्रोड़ में बैठकर आशंका और अभाव मानों त्रिलोक की विभूति का परिहास करते हैं। कैसा स्वर्गीय आनंद है; कैसा निर्विकार उल्लास है; कैसी पवित्र स्फूर्ति है!

राजीव आंतरिक अनुभव करते हुए गृह-संलग्न-उद्यान में विहार करने लगे।

पवित्रभाव आनंद-महाकाव्य का पुण्य मंगलाचरण है।

(२)

अतुल वैभव की प्राप्ति यदि पूर्व-संचित पुण्य-पुंज का पुरस्कार है तो त्याग का संकल्प विशुद्ध आत्मा की नैसर्गिक साध है। ऐश्वर्य्य की उपलब्धि यदि कठोर तप का फल है, तो निर्विकार दान-निर्वाण की साधना का उच्च सोपान है, विलास का उपभोग यदि संसार-सुख की सर्वोत्कृष्ट सीमा है, तो सेवा की साधना स्वर्ग के आनंद की अपूर्व शांति है। संसार यदि शरीर का पक्षपाती है, तो स्वर्ग आत्मा का स्नेहाभिलाषी है। इसी स्वर्ग के लिए, इसी पूर्ण शांति के लिए, राजीव ने अपने शरीर और ऐश्वर्य्य की बलि देने का पूर्ण निश्चय कर लिया। राजीव! "शुभास्ते संतु पंथानः"

राजीव ने सामने देखा—प्रातःकाल की सूर्य्य-श्री चमेली की कली का आलिंगन कर रही थी, गुलाब के अर्द्ध विकसित लज्जा-विनम्र मुख को देखकर कोकिला आनंद से उन्मत्त हो रही थी; रसाल के विशाल अंक में बैठकर माधवी और मालती

बालचापल्य के साथ हँसी कर रही थीं; और दूर पर एक कुंज में उनकी नववधू प्रियतमा सरोजिनी अपने कल-कंठ से एक सुन्दर गाना गा रही थी। राजीव सुनने लगे। गान-लहरी सूर्य्य की मनोहर किरणों के साथ नृत्य करने लगी; खिलते हुए फूल मानों आनंद से झूमने लगे।

राजीव रागपूर्ण राग को सुनते-सुनते उसी निकुंज की ओर चलने लगे। उन्होंने कुंज के द्वार पर जाकर देखा कि सरोजिनी अपने सुमन-सुंदर कर से एक फूलों की माला गूँथते-गूँथते अपने ही आप मंद स्वर में अलाप कर रही है। मधुर ध्वनि को सुनकर मानों सुमन हँस रहे हैं। आत्म-विस्मृत होकर सरोजिनी के हाथ से प्रेम-सूत्र में बंदी हो रहे हैं। कैसा दृश्य था, उषा-देवी सुमनों को मानों सूर्य्य की किरणों में गूँथ रही थी। कविता-देवी मानों ललित भावों को शब्द-सूत्र में पिरो रही थी। वसंत-श्री मानों विकसित पुष्पों का चंद्रहार बना रही थी। सुन्दरता मानों विभिन्न मन-सुमन-समूह को एक में बाँध रही थी। चंद्रिका-चर्चित यामिनी मानों नक्षत्र-श्रेणी को चंद्रमा की स्निग्ध रश्मि में गूँथ रही थी। कुसुम-कली मानों कर-स्पर्श से रोमांचित हो रही थी, हँस-हँसकर सरोजिनी के कर-पल्लव को चूम रही थी।

राजीव ने कहा—"सरोजिनी ! किसके लिए माला गूँथ रही हो ?"

सरोजिनी ने लजाकर मृदु स्वर से कहा—"हृदय-देवता के लिए।"

राजीव ने कहा—"प्रिये ! हम अपने समस्त ऐश्वर्य्य का हार माता के कंठ-देश में पहिरा दें। गूँथने में सहायता दोगी ?"

सरोजिनी ने एक बार अनुराग-रंजित नेत्रों से राजीव को देखा। सुमधुर शब्दों में 'हाँ' कहकर और मृदु मुसकान द्वारा

प्रस्ताव का समर्थन करके, सरोजिनी ने हृदय-देवता के गले में भुज-लता की कोमल माला पहिना दी।

प्रेम और पवित्रता माता के कंठ-देश में माला पहिनाने के लिए चल दिये। सहानुभूति और सेवा मानों सशरीर होकर त्याग के कठोर कर्त्तव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।

कुसुम के दल-के-दल पतित होकर उनके मार्ग को कोमल बनाने लगे; विश्वेश्वर के आशीर्वाद की शीतल छाया उत्तप्त सूर्य्य की किरणों से उनकी रक्षा करने लगी।

त्याग का संकल्प विजय-दुन्दुभी का प्रथम निर्घोष है।

(३)

मंदाकिनी के मंद-मंद प्रवाहित निर्मल शांत जल में चैत्र का चंद्रसा अपने सुन्दर वदन की श्री को देखकर आनंद से मुस-कुरा रहा है। तुषार-जल-कण-सिक्त-वन-पुष्पों से अठखेलियाँ करता हुआ समीर प्रकृति के दिनकर-कर-तप्त साम्राज्य को शीतल कर रहा है। राजीव अपने बाल्यबन्धु कुमुद के साथ परम रम्य दुकूल पर विहार कर रहे हैं। जगत् निस्तब्ध है; प्रकृति शांत है, समय मनोरम है।

राजीव अपनी चिंता में निमग्न हैं; कुमुद राजीव की शांत वदन-श्री एकटक होकर देख रहे हैं। राजीव सोचते हैं—कैसा मनोरम शांत अवसर है। मंदाकिनी के गुलाब-दल-कोमल-क्रोड़ में चंद्रमा, निर्बोध-प्रकृति योगी बालक की भाँति हँस रहा है। मंदाकिनी मानों वात्सल्य-रस की धार होकर बह रही है। प्रकृति मानों विश्व को समीर-कर की थपकियों से सुला रही है। कैसा प्रेम है, कैसा आनंद है! समस्त विश्व शांत होकर मानों भगवान की करुण छत्र-छाया में सो रहा है।

कुमुद ने शांति भंग करके कहा—"भैया राजीव! क्या तुमने दृढ़ निश्चय कर लिया है ?"

राजीव ने उत्तर दिया—"हाँ भाई! अपनी आत्मा की, परमेश्वर की प्रत्यक्ष प्रतिनिधि की आज्ञा का पालन किया है।"

कुमुद ने कुछ संदेहवश होकर कहा—"इस अवस्था में संसार का परित्याग करना तुम्हारा दुस्साहस है।"

राजीव ने कुछ हँसकर प्रत्युत्तर दिया—"संसार का परित्याग! नहीं भैया कुमुद! तुम समझते नहीं। मैं संसार का परित्याग नहीं करता हूँ, प्रत्युत संसार के साथ पूर्ण सहयोग करने को लालायित हो रहा हूँ। दरिद्रता के कंकाल-शेष-कलेवर में, वेदना के ज्वाला-ग्रसित शरीर में, निराशा के भग्न-हृदय में मैं एक नूतन संजीवनी धारा को प्रवाहित करने के प्रयत्न में प्रवृत्त हुआ हूँ। कुमुद! यह क्या संसार का परित्याग है ?"

कुमुद ने कुछ धीमे स्वर से कहा—"तब संसार-सुख से पराङ्मुख क्यों ?"

राजीव हँसे। कुमुद की ओर स्नेह से देखकर कहने लगे—"भोले भैया कुमुद! मैं इस विश्व में प्रकृत आनंद को प्राप्त करने के लिए ही इस मायिक सुख की तिलांजलि दे रहा हूँ। इस कुसुम-विनम्र लता को देखो! कैसी आनंदमयी है, देवता के चरण-कमलों में अपनी समस्त विभूति अर्पण करके वह कण-मात्र भी दुखी नहीं होती है। चंद्रमा निःस्वार्थ भाव से संसार के अंधकार—दुख को दूर कर रहा है। मंदाकिनी निःस्वार्थ वात्सल्य से पृथ्वी को पवित्र कर रही है। इसी निःस्वार्थ सेवा, निःस्वार्थ प्रेम के लिए मैं प्रस्तुत हो रहा हूँ। समझते हो कुमुद!"

कुमुद ने अनुरागपूर्ण दृष्टि से राजीव की ओर देखकर कहा—"समझता हूँ भैया! न समझकर भी मैं इतना अवश्य समझता हूँ कि, तुम कल्याणमति हो।"

राजीव ने उल्लसित होकर कुमुद का हाथ अपने हाथ में ले लिया, प्रेमपरिपूर्ण नयनों से उनकी ओर देखकर बोले—"भाई, कामी जिस काम-वासना के वश होकर जिन पयोधरों में काम का निवास देखता है, त्यागी उन्हीं में मातृत्व की वात्सल्य-धारा को देखकर कृतकृत्य होता है; जो नेत्र विलासी की दृष्टि में तीव्र यौवनमद से अरुण दिखाई देते हैं, उन्हीं में प्रकृत प्रेमी प्रेम के आँसुओं का पुण्य निवास देख पाता है। कुमुद, प्रवृत्ति का पराजय करना होगा।"

कुमुद ने स्वर में स्वर मिलाकर कहा—"प्रवृत्ति का पराजय करना होगा।"

राजीव फिर कहने लगे—"प्रवृत्ति का पराजय प्रवृत्ति का विनाश नहीं है। प्रवृत्ति को षट्रिपु से छुड़ाकर धर्म की अनुगामिनी बनना होगा। मैं इसी कठोर साधन में प्रवृत्त होना चाहता हूँ।"

कुमुद के हृदय में भाव की लहर बहने लगी। कुमुद ने सोचा—राजीव वास्तव में तपस्वी-जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। उनका संकल्प स्तुत्य एवं शुभ है।

राजीव पुनः कहने लगे—"कुमुद, भाई बोलो! जननी की इस विषाद-वदना मूर्ति पर हास्य की रेखा लाने के लिए, संसार को स्वर्ग-सम आसन पर बिठाने के लिए, धर्म की आज्ञा पालन करने के लिए तुम अपनी बलि दे सकोगे? इस महान संकल्प साधन में अग्रसर होगे?"

कुमुद ने उल्लसित एवं दृढ़ होकर कहा—भैया समझता हूँ। कर्त्तव्य उत्तुङ्ग हिमालय के सुवर्ण-शिखर पर स्थिर होकर हमें आह्वान कर रहा है; जननी का आज्ञा-पालन करने के लिए हृदय-शोणित विकल हो रहा है। मैं भाई के पार्श्व में, माता

सरोजिनी के आशीर्वाद-पाणि की छाया में, भारत-जननी की गोद में अपनी इस नश्वर देह की बलि देने को प्रस्तुत हूँ।"

राजीव ने देखा—वन-गमन के समय लक्ष्मण के मुख पर, भीष्म-प्रतिज्ञा के समय देवव्रत के वदन पर, अग्नि-प्रवेश के समय सती सीता के मुख पर जो शांति और ज्योति थी, ठीक वैसी ही शांति कुमुद के मुख पर विराज रही थी।

विलास की रंगभूमि की अपेक्षा कर्त्तव्य के संग्राम-क्षेत्र में भाई के स्वर्गीय स्नेह और आत्म-त्याग अधिक उज्ज्वल रूप में दृष्टि-गोचर होते हैं।

(४)

प्रेम-आचार्य के द्वारा सेवा-मंत्र में दीक्षित होकर परोपकार का पुण्य-संकल्प धारण करके राजीव, सरोजिनी और कुमुद अपने कठोर कर्त्तव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हो गए। अपने समस्त ऐश्वर्य्य को माता के पाद-पद्म में अर्पण करके, अपनी प्रवृत्तियों को धर्म्म की अनुगामिनी बनाकर मंदाकिनी के मुनि-सेवित दुकूल पर लताच्छादित कुटी में रहकर, कठोर साधना में प्रवृत्त हो गए। त्यागी की कल्याण-कामना, योगी की सिद्धि-साधना, प्रेम की पुनीत परिपाटी भगवान की विभिन्न विभूतियों के विभिन्न नाम हैं। उनका तत्त्व एक ही है। हिमालय के सुवर्ण-शृंग पर कल्लोल करने वाली अनेक कल्लोलिनी अनंत सिंधु में मिलकर एक हो जाती हैं; मानव-प्रवृत्ति विभिन्न धर्म-धाराओं में प्रवाहित होकर अंत में अनंत आनंद के क्षीर-सिंधु में तल्लीन हो जाती हैं।

किंतु, इन तीनों का जीवन निश्चेष्ट व्यापार नहीं था। प्रकृति के परम रम्यरूप को देखते हुए, एकांत संसार के दुख-समूह से दूर रहकर, ये अपना जीवन केवल कंदमूल-फल खाकर व्यतीत

नहीं करते थे। दरिद्रता के विकट चीत्कार में, मर्मघातिनी व्यथा की ज्वाला में विवस्त्र लज्जा की प्राणापहारिणी व्याकुलता में, अभाव के निरंतर अत्याचार में—ये तीनों जन यथासमय उपस्थित होकर, दया, करुणा, दान और ईश्वर-प्रार्थना की अमोघ औषधि का प्रयोग करके उनको शांत करते थे। व्यथित की आंतरिक आशीर्वाद-लहरी में मिल कर उनके हृदय की शांति-तरंगिणी, भगवान की अदृश्य करुणा-लहरी का अदृश्य संगम प्राप्त करके उस यातनाकाण्ड को मानो प्रयाग तीर्थ में परिणत कर देती थी; उसी में वे और व्यथित जन स्नान करके त्रिवेणी स्नान का परम पुण्य फल प्राप्त करते थे। कैसा सुन्दर जीवन था; कैसी मनोहर चर्य्या थी; कैसा शांतिमय व्यापार था।

चंद्रिका-चर्चित-दूर्वादल श्याम पृथ्वी खंड पर बैठे हुए तीनों जन एक बार वार्तालाप कर रहे थे। मन्दाकिनी कलित कंठ से मानों स्वर्गीय सङ्गीत गा रही थी। मन्द-मन्द वायु भगवान् की पवित्र निश्वास की भाँति संसार को शीतल कर रही थी। सुमन-सज्जिता लताएँ, आभरण-भूषिता देवाङ्गनाओं की भाँति थिरक रही थीं। रात्रि-विहारी पक्षी कभी-कभी आनन्द के आवेश में देव-वाणी की भाँति कूक उठते थे।

राजीव ने कहा—"कुमुद, देखते हो, सेवा का कैसा सुन्दर स्वाद है।"

कुमुद ने कहा—"हाँ भैया, अब मैं समझने लगा हूँ कि, सेवा में इसीलिए इतना आनन्द है कि, सेवा स्वभावतः सुन्दर है! जहाँ कारणवश सौंदर्य्य का अनुसन्धान किया जाता है, जहाँ स्वार्थ के वशीभूत होकर अन्धकार में भी ज्योति के देखने का नाट्य करना पड़ता है, जहाँ पैशाचिक हास्य में भी स्वर्गीय सुधाधर का स्वप्न देखना होता है, वहाँ आनन्द नहीं लालसा है।"

राजीव ने कहा—"ठीक कहते हो कुमुद, विलास के तीव्र आलोक में शांति की स्निग्ध आभा कहाँ? पाप के विकट कोलाहल में कविता की वीणा का मधुर रव कहाँ? स्वार्थ के बीच में सेवा का मनोहर सङ्गीत कहाँ? कुमुद, देखते हो, कैसा आनंद है? सरोजिनी, आनंदातिरेक से हृदय परिपूर्ण हो रहा है। मातृ-सन्तान की सेवा की महिमा का कैसा चमत्कार है।"

सरोजिनी ने आनन्द में भरकर कहा—"नाथ, स्त्री-जाति का जन्म ही सेवा के लिए हुआ है। यन्त्रणा के यन्त्र में फँसे हुए, संसार की ज्वाला में जलते हुए, मानव-समाज की सेवा करने के ही लिए स्त्री-जाति की सृष्टि हुई है। मातृत्व के वात्सल्य की, भगिनीत्व के स्निग्ध स्नेह की, पत्नीत्व के पवित्र पातिव्रत्य की, सब की सार्थकता निःस्वार्थ सेवा ही में है। मैंने इसी बात की शिक्षा तुम्हारे श्रीमुख से पाई है। तुम्हारे चरणतल में स्थित होकर मैं अपने जीवन के आदर्श को पूर्ण करने का प्रयास करते-करते अपना जीवन समाप्त कर सकूँ यही मेरी आन्तरिक आकांक्षा है।"

राजीव ने आनन्दपूर्ण होकर कहा—"भगवान करुणामय तुम्हारी आकांक्षा को पूर्ण करें।"

कुमुद ने नतजानु एवं बद्धांजलि होकर कहा—"और मैं! मैं भी माता के अङ्क में भाई और पूज्य भ्रातृ-जाया की आशीर्वाद-छाया में स्थित होकर आजीवन सेवा-व्रत का अनुष्ठान कर सकूँ, ऐसा वर दीजिए।"

उसी समय सघन लता के अभ्यंतर से ध्वनि हुई—'तथास्तु।' एक योगिराज सामने आकर खड़े हो गए। तीनों ने उठ कर प्रणाम किया।

सेवा की पवित्र धारा का अन्त अनन्त में है।

(५)

योगिराज, साक्षात् भूत-भावन की भाँति, एक शिलाखंड पर बैठ गए। सामने ही हिमालय की तुषार-मंडित शिखर-श्री चाँदनी में चाँदनी की भाँति चमक रही थी। योगीश्वर ने कहा—"सरोजिनी, राजीव और कुमुद, मैं बहुत काल से इसी वनस्थली में रहता हूँ। तुम्हारी निःस्वार्थ सेवा को देखकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।"

राजीव ने कहा—"भगवन्, हम लोगों का बड़ा सौभाग्य है कि आज हमारे पुण्यबल से आपका पवित्र दर्शन प्राप्त हुआ है।"

योगीश्वर बोले—"राजीव, मैं आज किसी अज्ञेय प्रेरणा के वशीभूत होकर तुम्हारी बातें सुन रहा था; और इसीलिए आज मैं तुम्हारे सामने समुपस्थित हुआ हूँ। जानते हो, मेरा उद्देश्य क्या है?"

राजीव ने विनम्र होकर कहा—"भगवन्, हम संसारी पुरुष आपके गम्भीर उद्देश्य को कैसे जान सकते हैं?"

योगीश्वर ने कहा—"जान सकोगे। सम्मुख देखो।"

तीनों ने एक बार ही सम्मुख देखा। हिमालय के तुषार-मण्डित शृङ्ग पर रत्न-किरीट-धारिणी, अपूर्व लावण्यमयी एक देवीमूर्ति, चन्द्रिका से भी उज्ज्वल अम्बर परिधान किए हुए खड़ी हैं। देवी के अङ्ग की आभा में चाँदनी क्षीर-सिन्धु में मंदाकिनी की भाँति विलुप्त हो गई। चारों ने झुककर प्रणाम किया।

देवी ने कुछ हँसकर अपना पाणि-पल्लव ऊपर उठाया, मानों सब को आशीर्वाद दिया। सबों ने फिर प्रणाम किया। देवी अन्तर्हित हो गईं।

योगीश्वर ने पूछा—"समझे?"

राजीव ने कहा—"हाँ माता की मूर्ति का पवित्र दर्शन ही सेवा का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार है।"

योगीश्वर ने कहा—हाँ, इसी मातृ-भूमि को हृदय में धारण करो; सेवा की कठोर साधना में सफल होंगे।"

—:❀:—

काव्य में प्राकृतिक दृश्य—

लेखक—पं० रामचन्द्र शुक्ल

प्रस्तुत आलोचनात्मक निबन्ध में लेखक ने इस विषय पर विचार किया है कि काव्यों में प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण और वर्णन किन प्रयोजनों से तथा किन रूपों में होना चाहिए। उद्दीपन एवं आलम्बन रूपों में चित्रित दृश्यों में क्या अन्तर है? इसकी सोदाहरण विवेचना की गई है। दृश्यों के संश्लिष्ट चित्रण में जो भावुकता दिखाई पड़ती है उसका प्रभाव हृदय पर बड़ा निर्मल पड़ता है। संस्कृत के विभिन्न कवियों ने प्रकृति के आलम्बन रूप में जो संश्लिष्ट चित्र रचे हैं वे काव्य के स्वयं रूप हैं। तुलनात्मक रूप में हिन्दी के कवियों की चित्रण-पद्धति हृदयहीन-सी ज्ञात होती है। इन हिन्दी के कवियों पर संस्कृत के पिछले खेवे के कवियों का अधिक प्रभाव पड़ा है।

—:*:—

दसवीं तरंग—

'दृश्य' शब्द के अंतर्गत, केवल नेत्रों के विषय का ही नहीं, अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का भी (जैसे शब्द, गंध, रस) ग्रहण समझना चाहिए। "महकती हुई मंजरियों से लदी और वायु के झकोरों से हिलती हुई, आम की डाली पर काली कोयल बैठी मधुर कूक सुना रही है" इस वाक्य में यद्यपि रूप, शब्द और गंध, तीनों का विवरण है, पर इसे एक दृश्य ही कहेंगे। बात यह है कि कल्पना द्वारा अन्य विषयों की अपेक्षा नेत्रों के विषयों का ही सबसे अधिक आनयन होता है; और सब विषय गौण रूप से आते हैं। बाह्य करणों के सब विषय अंतःकरण में 'चित्र-रूप' से प्रतिबिंबित हो सकते हैं। इसी प्रतिबिंब को हम 'दृश्य' भी कहते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि 'प्रतिबिंब' या 'दृश्य' का ग्रहण 'अभिधा' द्वारा ही होता है। पर 'अभिधा' द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नहीं होता। हमारे यहाँ आचार्यों ने मुख्य अर्थ बोधक शक्ति-विषय के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा, ये चार विषय तो बताये, पर स्वयं संकेत-ग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया। अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—बिंब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पंखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अंतःकरण में थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थ-मात्र समझ कर काम चलाया जाय। व्यवहार में तथा शास्त्रों में इसी दूसरे प्रकार के संकेत-ग्रह से काम चलता है।

वहाँ एक-एक पद के वाच्यार्थ के रूप पर अड़ते चलने की फुरसत नहीं रहती। पर काव्य के दृश्य-चित्रण में संकेत-ग्रह पहले प्रकार का होता है। उसमें कवि का लक्ष्य विंब-ग्रहण, कराने का रहता है, केवल अर्थ-ग्रहण कराने का नहीं। वस्तुओं के रूप और आसपास की परिस्थिति का व्योरा जितना ही स्पष्ट वा स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण विंब-ग्रहण होगा, और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा।

'विंब-ग्रहण' कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो 'विभाव' में दिखाई पड़ता है। काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला सबसे आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी; पर जब कि रस ही काव्य में प्रधान वस्तु है, तब उसके संयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है। रस का आधार खड़ा करनेवाला जो विभावन व्यापार है, वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है। किंतु वहाँ उसे यों ही उड़ान भरना नहीं होता, उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है। उसे ऐसे स्वरूप खड़े करने पड़ते हैं, जिनके द्वारा रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि का स्वयं अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता या पाठक भी उनका वैसा ही अनुभव करेंगे। अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण मनुष्य-मात्र की अनुभूति तथा उसके विषयों को अपने हृदय में रखनेवाले ही ऐसे स्वरूपों को अपने मन में ला सकते हैं; और कवि कहे जाने के अधिकारी बन सकते हैं।

किसी भाव के संबंध में दो पक्ष होते हैं—

(१) आलम्बन (भाव का विषय)

(२) आश्रय (भाव का अनुभव करनेवाला)

इनमें से प्रथम तो मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है। किन्तु दूसरा हृदय-संपन्न मनुष्य ही होता है। प्राचीन कविगण इन दोनों का स्वरूप प्रतिष्ठित करने में—इनका बिंब-ग्रहण कराने में—कल्पना का पूरा-पूरा उपयोग करते थे। वाल्मीकीय रामायण को मैं प्राचीन आर्य-काव्य का आदर्श मानता हूँ। उसमें राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव तथा रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही अयोध्या, चित्रकूट, दंडकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्योरे के साथ सामने आता है। इन स्थलों के वर्णन में हमें हाट, बाट, वृक्ष, वन, पर्वत, नदी, निर्भर, ग्राम, जनपद इत्यादि न जाने कितने पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण मिलता है।

साहित्य के आचार्यों की दृष्टि में वन, उपवन, ऋतु आदि श्रृङ्गार के 'उद्दीपन' मात्र हैं, वे केवल नायक या नायिका को हँसाने या रुलाने के लिए हैं। जब यही बात है, तब फिर इनका संश्लिष्ट चित्रण करके श्रोता को 'बिंब-ग्रहण' कराने से क्या प्रयोजन? उनके नाम गिनाकर अर्थ-ग्रहण करा दिया, बस, हो गया। पर सोचने की बात है कि क्या प्राचीन कवियों ने इनका वर्णन इसी रूप में किया है? क्या विश्व-हृदय वाल्मीकि ने वनों और नदियों आदि का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है? क्या महाकवि कालिदास ने कुमारसंभव के आरम्भ में ही हिमालय का जो विशद वर्णन किया है, वह केवल श्रृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से? कभी नहीं। ये वर्णन पहले तो प्रसंग प्राप्त हैं, अर्थात्

आलंबन की परिस्थिति को अंकित करनेवाले हैं। इनके विना
आश्रय और आलंबन शून्य में खड़े मालूम होते हैं। इस पर यों
गौर कीजिए। राम और लक्ष्मण के दो चित्र आपके सामने हैं।
एक में केवल दो मूर्तियां के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, और
दूसरे में पयस्विनी के द्रुम-लताच्छादित तट पर पर्ण-कुटी के
सामने, दोनों भाई बैठे हैं। इनमें से दूसरा चित्र परिस्थिति को
लिए हुए है, इससे उसमें हमारे भावों के लिए अधिक विस्तृत
आलंबन है। हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलंबन है,
अतः उपचार से वह हमारे भावों का भी आलंबन है। उसी
परिस्थिति में—उसी संसार में—उन्हीं दृश्यों के बीच, जिसमें
हम रहते हैं, राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-
संबंध का अधिक अनुभव करते हैं, जिससे 'साधारणीकरण'
पूरा-पूरा होता है।

पर प्राकृतिक वर्णन केवल अंग-रूप से ही हमारे भावों के
आलंबन नहीं हैं, स्वतंत्र रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यों के
बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे, और अब भी मनुष्य जाति का
अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत
करता है, उनके प्रति प्रेमभाव, पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से संस्कार
या वासना के रूप में, हमारे अन्तःकरण में निहित है। उनके
दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का
जो अनुरंजन होता है, वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।
इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्ते-
जक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है। जो प्राकृतिक
दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं, उनकी
रुचि भ्रष्ट हो गई है, और संस्कार-सापेक्ष है। मैंने पहाड़ों पर या
जंगलों में घूमते समय बहुत से ऐसे साधु देखे हैं, जो लहराते

हुए हरे भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों को देख मुग्ध हो गए हैं। (काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नीलवर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नीलकंठों को (मोरों को) देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है।) इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे दृश्यों को देखकर हर्ष होता है। हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि उसके मूल में रति-भाव वर्तमान है, और वह रतिभाव उन दृश्यों के प्रति है।

रीति ग्रंथों की बदौलत रस दृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो 'उद्दीपन' में डाल दिए गए और कुछ 'भावक्षेत्र' से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के हाते में हाँक दिए गए। इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार हो गया। जैसे लड़कों का खेलना, चीते का पूँछ पटक कर झपटना, हाथी का गंडस्थल रगड़ना इत्यादि। पर मैं इन्हें प्रस्तुत विषय मानता हूँ, जिन पर अप्रस्तुत विषयों का उत्प्रेक्षा आदि द्वारा आरोप हो सकता है। वात्सल्य रतिभाव के प्रदर्शन में यदि बच्चे की क्रीड़ा का वर्णन हो, तो क्या वह अलंकार-मात्र होगा? प्रस्तुत वर्ण्य विषय अलंकार नहीं कहा जा सकता। यह स्वयं रस के संयोजकों में से है; उसकी शोभा-मात्र बढ़ानेवाला नहीं। मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली मात्र मानता हूँ, जिसके अन्तर्गत करके चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं। सारांश यह कि 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं है, और इसी से उसका ठीक-ठीक लक्षण स्थिर नहीं हो सका है।

मनुष्य, शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक संबंध का विच्छेद करने से, अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिये मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक-रूपात्मक क्षेत्र मिला है, उसी प्रकार "भावों" (मन के वेगों) की व्याप्ति के लिए भी। अब यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा, तो उसका आनंद पशुओं के आनंद से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु, पक्षी, खेती-बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है, या कम से कम वासना के रूप में अन्तःकरण में निहित है।

प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है (१) सुन्दर रूप के अनुभव द्वारा, और (२) साहचर्य द्वारा। सुन्दर रूप के आधार पर जो प्रेम-भाव या लोभ (मेरे मानस-कोश में दोनों का अर्थ प्रायः एक ही निकलता है) प्रतिष्ठित होता है, उसका हेतु संलक्ष्य होता है, और जो केवल साहचर्य के प्रभाव से अङ्कुरित और पल्लवित होता है, वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान-शून्य होता है, यदि हम किसी किसान को उसकी झोपड़ी से हटाकर, किसी दूर देश में जाकर, राजभवन में टिका दें, तो वह उस झोपड़ी का, उसके छप्पर पर चढ़ी हुई कुम्हड़े की बेल का, सामने के नीम के पेड़ का, द्वार पर बँधे हुए चौपायों का ध्यान करके आँसू बहाएगा। वह यह कभी नहीं समझता कि मेरा झोपड़ा इस राजभवन से सुन्दर था, परन्तु फिर भी झोंपड़े का प्रेम उसके हृदय में बना हुआ है। यह प्रेम रूप-सौंदर्यगत नहीं है, सच्चा, स्वाभाविक और हेतु-ज्ञान-शून्य प्रेम है। इस प्रेम को रूप-सौन्दर्य-गत प्रेम नहीं पहुँच सकता।

इससे यह स्पष्ट है कि अपने सुख-विलास के अथवा शोभा और सजावट की अपनी रचनाओं के आदर्श को लेकर जो प्रकृति के क्षेत्र का अवलोकन करते हैं, और अपना प्रेमानन्द केवल इन शब्दों में प्रकट करते हैं कि "अहा-हा ! यह मैदान कैसा बेल बूटेदार कालीन की तरह फैला हुआ है, पेड़ किस प्रकार यहाँ से वहाँ तक एक पंक्ति में चले गए हैं, लताओं का कैसा सुन्दर मण्डप सा बन गया है, कैसी शीतल, मन्द, सुगन्ध हवा चल रही है", उनका प्रेम कोई प्रेम नहीं—उसे अधूरा समझना चाहिए। वे प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं। वे तमाशबीन हैं, और केवल अनोखापन, सजावट या चमत्कार देखने निकलते हैं। उनका हृदय मनुष्य-प्रवर्तित व्यापारों में पड़कर इतना कुण्ठित हो गया है कि उसमें, उन सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियों में, जिनमें अत्यन्त आदिम काल में मनुष्य-जाति ने अपना जीवन व्यतीत किया था, तथा उन प्राचीन मानव-व्यापारों में, जिनमें वन्य दशा से निकल कर वह अपने निर्वाह और रक्षा के लिए लगी, लीन होने की वृत्ति दब गई। अथवा यों कहिए कि उनमें करोड़ों पीढ़ियों को पार करके आनेवाली अन्त:संज्ञावातनी वह अव्यक्त स्मृति नहीं रह गई, जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। वे तड़क-भड़क, सजावट, रङ्गों की चमक दमक, कलाओं की बारीकी पर भले ही मुग्ध हो सकते हों, पर सच्चे सहृदय नहीं कहे जा सकते।

कँकरीले टीलों, ऊसर पटपरों, पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ किनारों, या बबूल करौंदे के झाड़ों में क्या आकर्षित करनेवाली कोई बात नहीं होती ? जो फ़ारस की चाल के बाग़ीचों के गोल चौखूटे कटाव, सीधी-सीधी रविशें, मेंहदी के बने भद्दे हाथी-घोड़े, काट-छाँटकर सुडौल किए हुए सरो के पेड़ों की कतारें, एक पंक्ति में फूले हुए गुलाब आदि देखकर ही वाह-वाह करना जानते हैं,

उनका साथ सच्चे भावुक सहृदयों को वैसा ही दुखदायी होगा, जैसा सज्जनों को खलों का। हमारे प्राचीन पूर्वज भी उपवन और वाटिकाएँ लगाते थे। पर उनका आदर्श कुछ और था। उनका आदर्श वही था, जो अब तक चीन और योरप में थोड़ बहुत बना हुआ है। आजकल के पार्कों में हम भारतीय आदर्श की छाया पाते हैं। हमारे यहाँ के उपवन वन के प्रतिरूप ही होते थे। जो वनों में जाकर प्रकृति का शुद्ध स्वरूप और उसकी स्वच्छन्द क्रीड़ा नहीं देख सकते थे, वे उपवनों में ही जाकर उसका थोड़ा बहुत अनुभव कर लेते थे। वे सर्वत्र अपने को ही नहीं देखना चाहते थे। पेड़ों को मनुष्य की कवायद करते देखकर ही जो मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वे अपना ही रूप सर्वत्र देखना चाहते हैं, अहङ्कारवश अपने से बाहर प्रकृति की ओर देखने की इच्छा नहीं करते।

काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं), उसके साधन में भी अहङ्कार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहङ्कार से पीछा न छूटेगा, तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। खेद है कि फारस की उस महफ़िली शायरी का कुसंस्कार भारतीयों के हृदय में भी इधर बहुत दिनों से जम रहा है, जिसमें चमन, गुल, बुलबुल, लाला, नरगिस आदि का ही कुछ वर्णन विलास की सामग्री के रूप में होता है—कोह, बयाबान आदि का उल्लेख किसी भारी विपत्ति या दुर्दिन के ही प्रसङ्ग में मिलता है। फारस में क्या और पेड़-पौदे नहीं होते। पर उनसे वहाँ के शायरों को कोई मतलब नहीं! अलबुर्ज जैसे सुन्दर पहाड़ का विशद वर्णन किस फारसी-काव्य में है? पर इधर वाल्मीकि को देखिए। इन्होंने

प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में केवल मञ्जरियों से छाए हुए रसालों, सुरभित सुमनों से लदी हुई मालती-लताओं, मकरन्द-पराग-पूरित सरोजों का ही वर्णन नहीं किया। इंगुदी, अंकोट, तेंदू, बबूल और बहेड़े आदि जङ्गली पेड़ों का भी पूर्ण तल्लीनता के साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार योरप के कवियों ने भी अपने गाँव के पास से बहते हुए नाले के किनारे उगनेवाली झाड़ी या घास तक का नाम आँखों में आँसू भरकर लिया है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को उसके व्यापार-गर्त से प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में ले जाने की शक्ति फारस की परिमित काव्य-पद्धति में नहीं है, भारत और योरप की पद्धति में है।

स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्भुत, अनूठी, चमत्कारपूर्ण, विशद या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है। जितने आदमी भेंड़ाघाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं, वे सब प्रकृति के सच्चे आराधक नहीं होते; अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है, और हृदय के गहरे तलों से सम्बन्ध नहीं रखती। जिस रुचि से प्रेरित होकर लोग आतशबाजी, जुलूस वगैरह देखने दौड़ते हैं, यह वही रुचि है। काव्य में इसी असाधारणत्व और चमत्कार की ओछी रुचि के कारण बहुत-से लोग अतिशयोक्ति-पूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने लगे। कोई विहारी के विरह-वर्णन पर सिर हिलाता है, कोई 'यार' की कमर गायब होने पर वाह-वाह करता है। कालिदास ने अत्यन्त प्राकृतिक ढङ्ग से रथ को धूल के आगे निकाला, तो भूषण ने घोड़े को छोड़े हुए तीर से एक तीर आगे कर दिया! पर मुबालगा जहाँ हद से ज्यादा बढ़ा कि मजाक हुआ। खेद है कि उर्दू की शायरी ऐसे ही मजाक की सूरत में आ गई।

भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिए काव्य में कहीं-कहीं असाधारणत्व अवश्य अपेक्षित होता है, पर उतनी ही मात्रा में, जितनी से प्रकृत भाव दबने न पाए। इस उत्कर्ष के लिए कहीं-कहीं असाधारणत्व पहले आलंबन में अधिष्ठित होकर भाव के उत्कर्ष का कारण-स्वरूप होता है। पर यह कहा जा चुका है कि उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलंबन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गंभीर भावों का आलंबन हो सकती है। साहचर्य-जन्य प्रेम कितना बलवान् होता है, उसमें वृत्तियों को तल्लीन करने की कितनी शक्ति होती है, यह सब लोग जानते हैं, पर वह असाधारणत्व पर अवलंबित नहीं होता। जिनका हमारा लड़कपन में साथ रहा है, जिन पेड़ों के नीचे, जिन टीलों पर, जिन नदी-नालों के किनारे हम अपने साथियों को लेकर बैठा करते थे, उनके प्रति हमारा प्रेम जीवन-भर स्थायी होकर बना रहता है। अतः चमत्कारवादियों की यह समझ ठीक नहीं कि जहाँ असाधारणत्व होता है, वहीं रस का परिपाक होता है, अन्यत्र नहीं।

प्रसंग-प्राप्त साधारण, असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्त्तव्य है। काव्य-क्षेत्र अजायबखाना या नुमाइशगाह नहीं है। जो सच्चा कवि है उसके द्वारा अंकित साधारण वस्तुएँ भी मन को तल्लीन करनेवाली होती हैं। साधारण के बीच में यथास्थान असाधारण की योजना करना सहृदय और कला-कुशल कवि का ही काम है। साधारण, असाधारण, अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करनेवाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण से ही असाधारण की सत्ता है। अतः केवल वस्तु के असाधारणत्व

या व्यंजन-प्रणाली के असाधारणत्व में ही काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नहीं।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्व-दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौंदर्य की भावना के साथ-साथ, जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश-परंपरागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय कहे जा सकते हैं। पहले कह आए हैं कि वन्य और ग्रामीण, दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं, दोनों पेड़-पौदों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ संबंध रखते हैं। हम पेड़-पौदों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बंद करते हैं, और कभी-कभी मन बहलाने को उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों में सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ-म्याऊँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेव जी कभी-कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की पर्वा न करके हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है, तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढ़ती हुई आती है, और कहती है कि तुम मुझसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो?

वनों, पर्वतों, नदी-नालों, कछारों, पटपरों, खेतों, खेतों की नालियों, घास के बीच से गई हुई डुर्रियों, हल-बैलों, झोपड़ों

और श्रम में लगे हुए किसानों इत्यादि में जो आकर्षण हमारे लिये है वह हमारे अन्तःकरण में निहित वासना के कारण है, असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभा के कारण नहीं। जो केवल पावस की हरियाली और वसंत के पुष्प-हास के समय ही वनों और खेतों को देखकर प्रसन्न हो सकते हैं, जिन्हें केवल मंजरीमंडित रसालों, प्रफुल्ल कदंबों और सघन मालती कुञ्जों का ही दर्शन प्रिय लगता है, ग्रीष्म के खुले हुए पटपर, खेत और मैदान, शिशिर की पत्र-विहीन नंगी वृक्षावली और झाड़-बबूल आदि जिनके हृदय को कुछ भी स्पर्श नहीं करते, उनकी प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिए। वे केवल अपने विलास या सुख की सामग्री प्रकृति में ढूँढ़ते हैं। उनमें उस 'सत्त्व' की कमी है जो सत्ता-मात्र के साथ एकीकरण की अनुभूति द्वारा लीन करके आत्मसत्ता के विभुत्व का आभास देती है। सम्पूर्ण सत्ता, क्या भौतिक क्या आध्यात्मिक, एक ही परम सत्ता या परम भाव के अन्तर्गत है। अतः ज्ञान या तर्क बुद्धि द्वारा हम जिस अद्वैत भाव तक पहुँचते हैं उसी भाव तक इस 'सत्त्व' गुण के बल पर हमारी रागात्मिका वृत्ति भी पहुँचती है। इस प्रकार अन्ततः दोनों वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। यदि हम ज्ञान द्वारा सर्वभूत को आत्मवत् जान सकते हैं, तो रागात्मिका वृत्ति द्वारा उसका अनुभव भी कर सकते हैं। तर्क-बुद्धि से हार कर परम ज्ञानी भी इस 'स्वानुभूति' का आश्रय लेते हैं। अतः परमार्थ-दृष्टि से दर्शन और काव्य, दोनों, अन्तःकरण की भिन्न-भिन्न वृत्तियों का आश्रय लेकर, एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हैं। इस व्यापक दृष्टि से काव्य का विवेचन करने से लक्षण-ग्रंथों में निर्दिष्ट सङ्कीर्णता कहीं-कहीं बहुत खटकती है। वन, उपवन, चाँदनी इत्यादि को दाम्पत्य रति के उद्दीपन मात्र मानने से सन्तोष नहीं होता।

पहले कहा जा चुका है कि रस के संयोजक जो विभाव आदि हैं, वे ही कल्पना के प्रधान क्षेत्र हैं। कवि की कल्पना का पूर्ण विकास उन्हीं में देखना चाहिए। पर वहाँ कल्पना को कवि की अनुभूति के आदेश पर चलना पड़ता है, उसकी श्रेष्ठता कवि की सहृदयता से सम्बन्ध रखती है, अतः उस कृत्रिमता के काल में, जिसमें कविता केवल अभ्यासगम्य समझी जाने लगी, कल्पना का प्रयोग काव्य का प्रकृत स्वरूप सङ्गठित करने में कम होकर अलंकार आदि वाह्य आडंबर फैलाने में अधिक होने लगा। पर विभावना द्वारा जब वस्तु-प्रतिष्ठा पूर्ण-रूप से हो ले, तब आगे और कुछ होना चाहिए। विभाव वस्तु चित्रमय होता है, अतः जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलंबन होती है, वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है। पिछले कवियों में इस वस्तु-चित्र का विस्तार क्रमशः कम होता गया। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सच्चे कवियों की कल्पना ऐसे रूपों की योजना करने में, ऐसी वस्तुएँ इकट्ठी करने में प्रयुक्त होती थीं, जिनसे किसी स्थल का चित्र पूरा होता था, और जो श्रोता के भाव का स्वयं आलंवन होती थीं। वे जिन दृश्यों को अङ्कित कर गए हैं, उनके ऐसे ब्योरों को उन्होंने सामने रक्खा है, जिनसे एक भरा-पूरा चित्र सामने आता है। ऐसे दृश्य अङ्कित करने के लिए प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता होती है, उसके स्वरूप में इस प्रकार तल्लीन होना पड़ता है कि एक-एक ब्योरे पर ध्यान जाय। उन्हें इस बात का अनुभव रहता था कि कल्पना के सहारे चित्र के भीतर एक-एक वस्तु और व्यापार का संश्लिष्ट-रूप में भरना जितना जरूरी है; उतना उपमा आदि ढूँढ़ना नहीं। इसी से उनके चित्र भरे-पूरे हैं। और इधर के कवियों ने जहाँ

परम्परापालन के लिए ऐसे चित्र खींचे भी हैं, वहाँ वे पूर्ण चित्र क्या, चित्र भी नहीं हुए हैं। उनके चित्र (यदि चित्र कहे जा सकें) ऐसे ही हुए हैं, जैसा किसी चित्रकार का अधूरा छोड़ा हुआ चित्र; जिसमें कहीं एक रेखा यहाँ लगी है, कहीं वहाँ; कहीं कुछ रंग भरा जा सका है, कहीं जगह खाली है। चित्रकला के प्रयोगों द्वारा इस बात की परीक्षा हो सकती है। वाल्मीकि के वर्षा-वर्णन को लीजिए, और जो-जो वस्तुएँ आती जायँ उनकी आकृति ऐसी सावधानी से अंकित करते चलिए कि कोई वस्तु छूटने न पावे। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी का भागवत से लिया गया वर्षा-वर्णन लेकर ऐसा ही कीजिए, और दोनों चित्रों को इस बात का ध्यान रखकर मिलाइए कि ये किष्किंधा की पर्वत-स्थली के चित्र हैं।

आदि कवि का कैसा सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण है, वस्तुओं और व्यापारों की कैसी संश्लिष्ट योजना है, उन्होंने किस प्रकार एक-एक पेचीले ब्यौरे पर ध्यान दिया है।

पर्वत की नदियाँ सर्ज और कदंब के फूलों से मिश्रित पर्वत-धातुओं (गेरू) से लाल, नए गिरे जल से कैसी शीघ्रता से बह रही हैं, जिनके साथ मोर बोल रहे हैं। रस से भरे, भौंरों के समान, काले-काले जामुन के फलों को लोग खा रहे हैं। अनेक रंग के पके आम के फल वायु के झोंके से टूटकर भूमि पर गिरते हैं। प्यासे पक्षी, जिनके पंख पानी से बिगड़ गए हैं, मोती के समान इन्द्र के दिए हुए जल को, जो पत्तों की नोक पर लगा हुआ है, हर्षित होकर पी रहे हैं।

अब पंचवटी में लक्ष्मण हेमंत का कैसा दृश्य देख रहे हैं, उसका एक छोटा-सा नमूना लीजिए—

वन की भूमि, जिसकी हरी-हरी घास पाला गिरने से कुछ-कुछ गीली हो गई है, धूप पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यंत प्यासा जंगली

हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड़ सिकोड़ता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अंधकार में सोए-से जान पड़ते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें के सारस पक्षी केवल शब्द से जाने जाते हैं, हिम से आर्द्र बालू के तटों से पहचानी जाती हैं। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झर गए हैं, जिनकी केसर और कर्णिका टूटफूटकर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नालमात्र खड़े हैं।

महाकवि कालिदास ने भी जहाँ स्थल-वर्णन को सामने रखकर दृश्य अङ्कित किया है वहाँ उनका निरीक्षण अत्यंत सूक्ष्म है—

मेखला तक घूमनेवाले मेघों के नीचे के शिखरों में प्राप्त छाया को सेवन करके वृष्टि से कँपे हुए सिद्ध लोग धूपवाले शिखरों का सेवन करते हैं। जिस (हिमालय) में कपोलों की खुजली मिटाने के लिए हाथियों के द्वारा रगड़े गए सरल (सलई) के पेड़ों से टपके हुए दूध से उत्पन्न सुगंध शिखरों को सुगंधित करती है। गङ्गा के झरने के कणों को ले जानेवाला, बार-बार देवदारु के पेड़ों को कँपानेवाला, मयूरों की पूँछों को छितरानेवाला जिसका पवन-मृगों के ढूँढ़नेवाले किरातों द्वारा सेवन किया जाता है।

उपमाएँ देने में कालिदास अद्वितीय समझे जाते हैं, पर वस्तु-चित्र को उपमा आदि का अधिक बोझ लादकर उन्होंने भद्दा नहीं किया। उनका मेघदूत—विशेषकर पूर्वमेघ—तो यहाँ से वहाँ तक एक मनोहर चित्र ही है। ऐसा काव्य तो संस्कृत क्या, किसी भाषा में भी शायद ही हो। जिनमें ऐतिहासिक सहृदयता है, देश के प्रकृत स्वरूप के साथ जिनके हृदय का सामंजस्य है, मेघदूत उनके लिये भावों का भरा-पूरा भंडार है। जिसकी रुचि भ्रष्ट हो गई है, जो सर्वत्र उपमा, उत्प्रेक्षा ही ढूँढ़ा करते हैं, जो "अनूठी उक्तियों" पर ही वाह-वाह किया करते हैं, उनके लिए चाहे उसमें कुछ भी न हो।

कालिदास ने वन-श्री, पुर की शोभा आदि का ही वर्णन एक-एक ब्यौरे पर दृष्टि ले जाकर नहीं किया, उजाड़ खड़हरों का भी ऐसा ही वर्णन किया है, उनका ऐसा स्वरूप सामने रखा है, जिसे अतीत स्वरूप के साथ मिलाने पर करुणा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कुश जब कुशावती में जाकर राज्य करने लगे, तब अयोध्या उजड़ गई। एक दिन रात को अयोध्या की अधिदेवता स्त्री का रूप धरकर उनके पास गई, और अयोध्या की हीन दशा का अत्यंत मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया।

(समय के फेर से काले पड़े हुए चूनेवाले मंदिरों में, जिनमें इधर-उधर घास के अँकुर उगे हैं, रात्रि के समय मोती की माला के समान वे चंद्र किरणें अब प्रकाश नहीं करतीं। रात्रि में दीपक के प्रकाश से रहित, और दिन में स्त्रियों के मुख की कांति से शून्य, जिनमें से धुएँ का निकलना बंद हो गया है, ऐसे झरोखे मकड़ियों के जालों से ढक गए हैं)

भाव-मूर्ति भवभूति ने यद्यपि शब्दालंकार की ओर अधिक रुचि दिखाई, पर प्रकृति के रूप-माधुर्य की ओर उनका पूर्ण ध्यान रहा। नाटक में स्थल-चित्रण के लिए पूर्ण अवकाश न होने पर भी उन्होंने बीच-बीच में उसकी जो झलक दिखाई, उससे वन्य प्राकृतिक दृश्यों का गूढ़ अनुराग लक्षित होता है। खेद है कि जिस कल्पना का उपयोग मुख्यतः पदार्थों का रूप संघटित करने, प्राकृतिक व्यापारों को प्रत्यक्ष करने और इस प्रकार किसी दृश्य-खंड के ब्यौरे पूरे करने में होना चाहिए था, उसका प्रयोग करने में पिछले कवियों ने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि की उद्भावना करने में ही अधिक किया। महाकवि माघ प्रबंध-रचना में जैसे कुशल थे, वैसे ही उसके पक्षपाती भी थे; पर उनकी प्रवृत्ति हम प्रस्तुत वस्तु-विन्यास की ओर कम और अलंकार योजना की ओर अधिक पाते हैं। उनके दृश्य-वर्णन में वाल्मीकि आदि

प्राचीन कवियों का-सा प्रकृति का रूप-विश्लेषण नहीं है, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, अर्थांतरन्यास आदि की भरमार है। उदाहरण के लिए उनका प्रभात-वर्णन लीजिए—

अरुण कमल-रूपी कोमल हाथ-पैरवाली, मधुमाला-रूपी कज्जल-नेत्रवाली; पक्षियों के कलरव-रूपी रोदनवाली यह प्रभात-वेला सद्योजात बालिका के समान रात्रि-रूपी अपनी माता की ओर लपकी आ रही है। जिस प्रकार घड़ा खींचते समय स्त्रियाँ कुछ कोलाहल करती हैं, उसी प्रकार पक्षियों के कोलाहल से पूर्ण दिशा-रूपी स्त्रियाँ, दूर तक फैली हुई किरण-रूपी रस्सियों से सूर्य-रूपी घड़े को बाँधकर, बड़े भारी कलश के समान समुद्र के भीतर से खींचकर ऊपर निकाल रही हैं। सूर्य के उदय होने से पहले ही सूर्य के साथी अरुण ने सारा अंधकार दूर कर दिया, बैरियों को नष्ट करने वाले स्वामियों के आगे जानेवाला सेवक भी शत्रुओं को मार भगाने में समर्थ होता है।

इस वर्णन से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि कवि को दृश्य की एक-एक सूक्ष्म वस्तु और व्यापार प्रत्यक्ष करके चित्र पूरा करने की उतनी चिंता नहीं है, जितनी कि अद्भुत-अद्भुत उपमाओं आदि के द्वारा एक कौतुक खड़ा करने की। पर काव्य कौतुक नहीं है, उसका उद्देश्य गंभीर है।

पाश्चात्य काव्य-समीक्षक किसी वर्णन के ज्ञातृपक्ष (Subjective) और ज्ञेय पक्ष (Objective)—अथवा विषयि-पक्ष और विषय-पक्ष—दो पक्ष लिया करते हैं। जो वस्तुएँ बाह्य प्रकृति में हम देख रहे हैं, उनका चित्रण ज्ञेय-पक्ष के अंतर्गत हुआ, और उन वस्तुओं के प्रभाव से हमारे चित्त में जो भाव या आभास उत्पन्न हो रहे हैं, वे ज्ञातृपक्ष के अंतर्गत हुए। अतः उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के आधिक्य के पक्षपाती कह सकते हैं कि पिछले कवियों के दृश्य-वर्णन ज्ञातृ-पक्ष-प्रधान हैं। ठीक है—

वस्तु-विन्यास प्रधान कार्य है। यदि वह अच्छी तरह बन पड़ा, तो पाठक के हृदय में दृश्य के सौन्दर्य, भीषणता, विशालता इत्यादि का अनुभव थोड़ा-बहुत आप-से-आप होगा। वस्तुओं के सम्बन्ध में इन भावों का ठीक-ठीक अनुभव करने में सहारा देने के लिये कवि कहीं बीच-बीच में अपने अन्तःकरण की भी झलक दिखाता चले, तो यहाँ तक ठीक है।

यह झलक दो प्रकार की हो सकती है—भावमय और अपरवस्तुमय। जैसे, किसी ने कहा—"तालाब के उस किनारे पर खिले कमल कैसे मनोहर लगते हैं!" यहाँ कमलों के दर्शन से सौन्दर्य का जो भाव चित्त में उदित हुआ, वह वाच्य द्वारा स्पष्ट कह दिया गया। वही बात यदि यों कही जाय कि 'तालाब के उस किनारे पर खिले कमल ऐसे लगते हैं, मानों प्रभात के गगन-तट पर की ललाई" तो सौन्दर्य का भाव स्पष्ट न कहा जाकर दूसरी ऐसी वस्तु सामने ला दी गई, जिसके साथ भी वैसे ही सौन्दर्य का भाव लगा हुआ है। एक में भाव वाच्य द्वारा प्रकट किया दूसरे में अलङ्कार-रूप गुणी-भूत व्यंग्य द्वारा। इससे स्पष्ट है कि दृश्य-वर्णन करते समय कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा वर्ण्य वस्तुओं के मेल में जो दूसरी वस्तुएँ रखता है वह केवल भाव को तीव्र करने के लिए। अतः ये दूसरी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए, जिनसे प्रायः सब मनुष्यों के चित्त में वे ही भाव उदित होते हों जो वर्ण्य वस्तुओं से होते हैं। यों ही खिलवाड़ के लिए बार-बार प्रसङ्ग-प्राप्त वस्तुओं से श्रोता या पाठक का ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसङ्गानुकूल भाव उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं, काव्य के गाम्भीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है। इसी प्रकार बात-बात में अहा हा! कैसा मनोहर है! कैसा आह्लाद-

जनक है !" ऐसे भावोद्गार भी भद्देपन से खाली नहीं, और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध हैं। तात्पर्य यह कि भावों की अनुभूति में सहायता देने के लिए केवल कहीं-कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग उतना ही उचित है, जितने से बिम्ब ग्रहण करने में, दृश्य का चित्र हृदयङ्गम करने में, श्रोता या पाठक को बाधा न पड़े।

जहाँ एक व्यापार के मेल में दूसरा व्यापार रखा जाता है, वहाँ या तो (क) प्रथम व्यापार से उत्पन्न भाव को अधिक तीव्र करना होता है; जैसे हिलती हुई मञ्जरियाँ मानों भौंरों को पास बुला रही हैं; अथवा (ख) द्वितीय व्यापार का सृष्टि के बीच एक गोचर प्रतिरूप दिखाना, जैसे—

"बुन्द अघात सहैं गिरि कैसे। खल के बचन सन्त सह जैसे।"

दूसरी अवस्था में प्रस्तुत दृश्य स्वयं सृष्टि या जीवन के किसी रहस्य का गोचर प्रतिबिम्बवत् हो जाता है। अतः उस प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में कल्पना उत्साह नहीं दिखाती। इसी से जहाँ दृश्य-चित्रण इष्ट होता है, वहाँ के लिए यह अवस्था अनुकूल नहीं होती।

वाल्मीकिजी भी बीच-बीच में उपमाएँ देते गए हैं; पर उससे उनके सूक्ष्म-निरीक्षण में कसर नहीं आने पाई है। वर्षा में पर्वत की गेरू से मिल कर नदियों की धारा का लाल होकर बहना, पर्वत के ऊपर से पानी की मोटी धारा का काली शिलाओं पर गिर कर छितराना, पेड़ों पर गिरे वर्षा के जल का पत्तियों की नोकों पर से बूँद-बूँद टपकना और पक्षियों का उसे पीना, हेमंत में कमलों के नाल-मात्र का खड़ा रहना और उसके छोर पर केसर का छितराना, ऐसे-ऐसे व्यापारों को वह सामने लाते चले गए हैं। सुन्दरकाण्ड के पाँचवें सर्ग में जो छोटा-सा "चंद्र-नामा" है; वह इसके विरोध में नहीं उपस्थित किया जा सकता;

क्योंकि वह एक प्रकार की स्तुति या वर्णन-मात्र है। वहाँ कोई दृश्य-चित्रण नहीं है।

विषयी या ज्ञाता अपने चारों ओर उपस्थित वस्तुओं को कभी-कभी किस प्रकार अपने तत्कालीन भावों के रंग में देखता है, इसका जैसा सुन्दर उदाहरण आदि कवि ने दिया है, वैसा अन्यत्र कहीं कदाचित् ही मिले। पंचवटी में आश्रम बना-कर हेमंत में जब लक्ष्मण एक-एक वस्तु और प्राकृतिक व्यापार का निरीक्षण करने लगे, उस समय पाले से धुँधली पड़ी हुई चाँदनी उन्हें ऐसी दिखाई पड़ी; जैसी धूप से साँवली पड़ी हुई सीता।

इसी प्रकार सुग्रीव को राज्य देकर माल्यवान् पर्वत पर निवास करते हुए, सीता के विरह में व्याकुल, भगवान् रामचंद्र को वर्षा आने पर ग्रीष्म की धूप से संतप्त पृथ्वी जल से पूर्ण होकर सीता के समान आँसू बहाती हुई दिखाई देती है, काले-काले बादलों के बीच में चमकती हुई बिजली रावण की गोद में छटपटाती हुई वैदेही के समान दिखाई पड़ती है, और फूले हुए अर्जुन के वृक्षों से युक्त तथा केतकी से सुगंधित शैल ऐसा लगता है, जैसे शत्रु से रहित होकर सुग्रीव अभिषेक की जलधारा से सींचा जाता हो।

ऐसा अनुमान होता है कि कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले ही से, दृश्य वर्णन के संबंध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आव-श्यक नहीं समझा गया, जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है, ऋतु-वर्णन वैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे, जैसे

बारहमासा पढ़ा जाता है। अतः उनमें अनुप्रास और शब्दों के माधुर्य आदि का ध्यान अधिक रहने लगा। कालिदास के ऋतु-संहार और रघुवंश के नवें सर्ग में सन्निविष्ट वसंत-वर्णन से इसका कुछ आभास मिलता है।

रीति-ग्रंथों के अधिक बनने और प्रचार पाने से क्रमशः यह ढंग जोर पकड़ता गया। प्राकृतिक वस्तु व्यापार का सूक्ष्म निरीक्षण धीरे-धीरे कम होता गया। किस ऋतु में क्या-क्या वर्णन करना चाहिए, इसका आधार 'प्रत्यक्ष' अनुभव नहीं रह गया, 'आप्त-शब्द' हुआ। वर्षा के वर्णन में जो कदंब, कुटज, इन्द्रवधू, मेघ-गर्जन, विद्युत् इत्यादि का नाम लिया जाता रहा, वह इसलिए कि भगवान् भरत मुनि की आज्ञा थी। कहना नहीं होगा कि हिंदी के कवियों के हिस्से यही आया। गिनी गिनाई वस्तुओं के नाम लेकर अर्थ-ग्रहण-मात्र कराना अधिकतर उनका काम हुआ, सूक्ष्मरूप-विवरण और आधार-आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ 'बिम्ब-ग्रहण' कराना नहीं।

ऋतु-वर्णन की यह प्रथा निकल ही रही थी कि कवियों को भी औरों की देखा-देखी दंगल का शौक पैदा हुआ। राज-सभाओं में ललकार कर टेढ़ी-मेढ़ी विकट समस्याएँ दी जाने लगीं, और कवि लोग उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की अद्‌भुत-अद्‌भुत उक्तियों द्वारा उनकी पूर्ति करने लगे। ये उक्तियाँ जितनी ही बे-सिर-पैर की होतीं; उतनी ही वाहवाही मिलती।

जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी, वह बाजीगर का तमाशा करने लगती। होते-होते यहाँ तक हुआ कि "पिपीलिका नृत्यति वह्निमध्ये" और "मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे" की नौबत आ गई।

कहाँ ऋषि-कवि का पाले से धुँधले चंद्रमा का मुँह की भाप से अंधे दर्पण के साथ मिलान, और कहाँ तारे और हड्डियाँ! खैर, यहाँ दोनों का रंग तो सफेद है? आगे चलकर तो यह दशा हुई कि दो-दो वस्तुओं को लेकर सांग-रूपक बाँधते चले जाते हैं, वे किसी बात में परस्पर मिलती-जुलती भी हैं या नहीं, इससे कोई मतलब नहीं, सांग रूपक की रस्म तो अदा हो रही है। दूसरी बात विचारने की यह है कि संध्या समय अस्त होते हुए सूर्य को देख संखक कवि के हृदय में किसी भाव का उदय हुआ या नहीं, उनके कथन से किसी भाव की व्यंजना होती है या नहीं? यहाँ अस्त होता हुआ सूर्य 'आलंबन' और कवि ही आश्रय माना जा सकता है। पर मेरे देखने में तो यहाँ कवि का हृदय एकदम तटस्थ है। उससे सारे वर्णन से कोई मतलब ही नहीं। उससे रति, शोक आदि किसी भाव का पता नहीं लगता। ऐसे पद्यों को काव्य में परिगणित देख यदि कोई "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" की व्याप्ति में संदेह कर बैठे तो उसका क्या दोष? "ललाई के बीच सूर्य का बिंब समुद्र के छोर पर डूबा और तारे छिटक गए", इतना ही कथन यदि प्रधान होता, तो वह दृश्य कवि और श्रोता दोनों के रति-भाव का आलंबन होकर काव्य कहला भी सकता था; पर अलंकार से एकदम आक्रांत होकर वह काव्य का स्वरूप ही खो बैठा। यदि कहिए कि यहाँ अलंकार द्वारा उक्त दृश्य-रूप वस्तु व्यंग है, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि 'विभाव' व्यंग नहीं हुआ करता। 'विभाव' से शब्द-चित्र द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी होती है, जो भावों का आश्रय, आलंबन और उद्दीपन होती हैं। जब यह वस्तु-प्रतिष्ठा हो लेती है, तब भावों के व्यापार का आरंभ होता है। मुक्तक में जहाँ नायक-नायिका का चित्रण नहीं होता, वहाँ उनका ग्रहण 'आक्षेप' द्वारा होता है, व्यंजना द्वारा नहीं।

दृश्य-वर्णन में उपमा उत्प्रेक्षा आदि का स्थान कितना गौण है, इसकी मनोविज्ञान की रीति से भी परीक्षा हो सकती है। एक पर्वत-स्थली का दृश्य वर्णन करके किसी को सुनाइए। फिर महीने-दो-महीने पीछे उससे उसी दृश्य का कुछ वर्णन करने के लिए कहिए। आप देखेंगे कि उस सम्पूर्ण दृश्य की सुसंगत योजना करनेवाली वस्तुओं और व्यापारों में से वह बहुतों को कह जायगा, पर आपकी दी हुई उपमाओं में से शायद ही किसी का उसे स्मरण हो। इसका मतलब यही है कि उस वर्णन के जितने अंश पर हृदय की तल्लीनता के कारण पूरा ध्यान रहा; उसका संस्कार बना रहा; और इसीलिए संकेत पाकर उसकी तो पुनरुद्भावना हुई, शेष अंश छूट गया।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिंदी की कविता का उत्थान उस समय हुआ, जब संस्कृत-काव्य लक्ष्य-च्युत हो चुका था। इसी से हिन्दी की कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता, जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है। केशव के पीछे तो प्रबंध-काव्यों का बनना एक प्रकार से बंद ही हो गया। आचार्य बनने का ही हौसला रह गया, कवि बनने का नहीं। अलंकार और नायिका-भेद के लक्षण-ग्रन्थ लिखकर अपने रचे उदाहरण देने में ही कवियों ने अपने कार्य की समाप्ति मान ली। ऐसे फुटकर पद्य-रचयिताओं की परिमित कृति में प्राकृतिक दृश्य ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। शृंगार के उद्दीपन के रूप में 'षट्ऋतु' का वर्णन अवश्य कुछ मिलता है; पर उसमें बाह्य प्रकृति के रूपों का प्रत्यक्षीकरण मुख्य नहीं होता, नायक-नायिका का प्रमोद या संताप ही मुख्य होता है। अब रहे दो-चार आख्यान-काव्य। उनमें दृश्य-वर्णन को स्थान ही बहुत कम दिया गया है। अगर कुछ वर्णन परंपरा-पालन की

की पूँछों का छितराना, किरातों का मृगों की खोज में निकलना और वायु-सेवन करना, इतने व्यापारों को परस्पर संबद्ध दिखाया है। पर इतनी अधिक संश्लिष्ट योजना के प्रत्यक्षीकरण के लिए विस्तृत और गूढ़ निरीक्षण अपेक्षित है। गोस्वामी तुलसीदासजी का जो चित्रकूट-वर्णन है, उसमें यह बात कुछ-कुछ है। "सोहत श्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे शृंगनि" में यों ही काले बादल का नाम नहीं ले लिया है; वह ऊपर उठे हुए शृंग पर दिखाया गया है, और वह शृंग भी गेरू में रँगा हुआ है। इसी प्रकार "जल-जुत विमल सिलनि झलकत नभ वन-प्रतिबिंब तरंग" में शिलाओं का धुलकर स्वच्छ होना, उन पर बरसाती पानी का लगना, स्वच्छता के कारण उनमें आकाश और वन का प्रतिबिंब दिखाई पड़ना, इतनी बातों की एक वाक्य में संबद्ध-योजना पाई जाती है।

मैं समझता हूँ, अब यह दिखाने के लिए और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतंत्र आलंबन हैं, उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यों के अंतर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे, उनमें जीवन के मूल-स्वरूप और मूल-परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं! जो व्यापार केवल मनुष्य की अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे, जो उसके आदिम जीवन से बहुत इधर के होंगे, उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की-सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी। जैसे, "सीतल गुलाब-जल भरि चहबच्चन में" बैठे हुए कविजी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ में बैठ कर जीभ निकाल-निकाल हाँफते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा जायगा। इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढ़े "गुलगुली

गिलसें, गलीचा" बिछाकर बैठे हुए स्वाँग से धूपमें खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव हैं। पुतलीघर में एंजिन चलाते हुए देशी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। विश्वास न हो, तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए।

जब कि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं, तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन-सा रस है? जो-जो पदार्थ हमारे किसी-न-किसी भाव के विषय हो सकते हैं, उन सबका वर्णन रस के अंतर्गत है; क्योंकि 'भाव' का ग्रहण भी रस के समान ही होता है। यदि रति-भाव के रस-दशा तक पहुँचने की योग्यता 'दांपत्य रति' में ही मानिए तो पूर्ण भाव के रूप में भी दृश्यों का वर्णन कवियों की रचनाओं में बराबर मिलता है। जैसे काव्य के किसी पात्र का यह कहना कि "जब मैं इस पुराने आम के पेड़ को देखता हूँ, तब इस बात का स्मरण हो आता है कि यह वही है, जिसके नीचे मैं लड़कपन में बैठा करता था, और सारा शरीर पुलकित हो जाता है, मन एक अपूर्व भाव में मग्न हो जाता है।" विभाव अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यंजना का उदाहरण होगा।

पहले कहा जा चुका है कि जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलंबन होती है; उसका शब्द-चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया, तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य्य नहीं कि वह 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ, हर्ष से नाचता हुआ, या विषाद से रोता हुआ, दिखावे। मैं आलंबन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ। यह बात नहीं है कि जब तक